



लौकागच्छ  
और  
रथानकवासी

लेखक - इतिहासवेत्ता विद्वद्वर्य  
पं. श्री कल्याणविजयजी गणि

## यह पुस्तिका

( लेखक - इतिहासवेत्ता पं. श्री कल्याणविजयजी गणि )  
पुस्तक के चतुर्थ परिच्छेद से उद्धृत की गई है।

लौकाशाह के सत्य इतिहास को इसमें प्राचीन-  
प्रमाण और तर्क से पेश किया है। पूर्वग्रह से मुक्त  
होकर मध्यस्थभाव से इस प्रामाणिक इतिहास को पढ़ें,  
सोचे, विचारें, समझे और आत्मकल्याण का पथ  
अपनाईए।

मुद्रक

संकेत आर्ट

७/३०१८, सैयदपुरा,  
तुरावा महोल्लो, सूरत.

प्राप्ति स्थान

सुनिल बालड

जमना विहार, भीलवाड़ा.  
फोन : ९८२८३ ८१५७९

## गृहस्थों का गच्छ-प्रवर्तन

### लौकामत-गच्छ की उत्पत्ति

सूत्रकाल में स्थविरों के पट्टकम की यादी को “थेरावली” अर्थात् “स्थविरावली” इस नाम से पहिचाना जाता था, क्योंकि पूर्ववर्तियों के समय में निर्ग्रन्थश्रमण बहुधा वसति के बाहर उद्यानों में ठहरा करते थे और पृथ्वीशिलापट्ट पर बैठे हुए ही श्रोतागणों को धर्मोपदेश सुनाते थे, न कि पट्टो पर बैठकर। देश, काल, के परिवर्तन के वश श्रमणों ने भी उद्यानों को छोड़कर ग्रामों नगरों में ठहरना उचित समझा और धीरे-धीरे जिननिर्वाण से ६०० वर्ष के बाद अघिकांश जैन श्रमणों ने वसतिवास प्रचलित किया। गृहस्थ वर्ग जो पहले “उपासक” नाम से सम्बोधित होता था वह धीरे-धीरे नियत रूप से धर्म-श्रवण करने लगा, परिणाम स्वरूप प्राचीन श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका-समुदाय श्रावक श्राविका के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह सब होते हुए भी तब तक श्रमणसंघ धार्मिक मामलों में अपनी स्वतंत्रता कायम रखे हुए था।

उपर्युक्त समय दमियान जो कोई निर्ग्रन्थ श्रमण अपनी कल्पना के बल से धार्मिक सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क प्रतिष्ठित करता तो श्रमण-संघ उसको समझा-बुझाकर सिद्धान्तानुकूल चलने के लिए बाध्य करता, यदि इस पर भी कोई अपने दुराग्रह को न छोड़ता तो श्रमण-संघ उसको अपने से दूर किये जाने की उद्घोषणा कर देता। श्रमण भगवान् महावीर को जीवित अवस्था में ही ऐसी घटनाएँ घटित होने लगी थीं। महावीर को तीर्थ-

कर पद प्राप्त होने के बाद १४ वें और २० वें वर्ष में क्रमशः जमालि और तिष्यगुप्त को श्रमण-संघ से बहिष्कृत किये जाने के प्रसंग सूत्रों में उपलब्ध होते हैं, इसी प्रकार जिन-वचन से विपरीत अपना मत स्थापित करने वाले जैन साधुओं के संघबहिष्कृत होने के प्रसंग "भावश्यक-निर्युक्ति" में लिखे हुए उपलब्ध होते हैं, इस प्रकार से संघ बहिष्कृत व्यक्तियों को शास्त्र में निह्वन इस नाम से उल्लिखित किया है और "श्रीपपातिक" "स्थानाङ्गसूत्र" एवं भावश्यकनिर्युक्ति में उनकी संख्या ७ होने का निर्देश किया है।

वीरजिन-निर्वाण की सप्तम शती के प्रारंभ में नग्नता का पक्ष कर अपने गुरु से पृथक् हो जाने और अपने मत का प्रचार करने की आर्य शिव-भूति की कहानी भी हमारे पिछले भाष्यकार तथा टीकाकारों ने लिखी है, परन्तु शिवभूति को संघ से बहिष्कृत करने की बात प्राचीन साहित्य में नहीं मिलती। इसका कारण यही है कि तब तक जैन श्रमण बहुधा वसतियों में रहने वाले बन चुके थे और उनके पक्ष, विपक्ष में खड़े होने वाले गृहस्थ श्रावकों का उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बन चुका था। यही कारण है कि पहले "श्रमण-संघ" शब्द की व्याख्या "श्रमणानां संघः श्रमण-संघः" अर्थात् "साधुओं का संघ" ऐसी की जाती थी, उसको बदलकर "श्रमणप्रधानः संघः श्रमणसंघः" अर्थात् जिससंघ में साधु प्रधान हों वह "श्रमणसंघ" ऐसी व्याख्या को जाने लगी।

आर्य स्कन्दिल के समय में जो दूसरी बार आगमसूत्र लिखे गए थे, उस समय श्रमणसंघ शब्द की दूसरी व्याख्या मान्य हो चुकी थी और सूत्र में "चाउवण्णे सघो" शब्द का विवरण, "समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ" इस प्रकार से लिखा जाने लगा था। इसका परिणाम श्रमण-संघ के लिए हानिकारक हुआ, अपने मार्ग में उत्पन्न होने वाले मतभेदों और आचार-विषयक शिथिलताओं को रोकना उनके लिए कठिन हो गया था। जिननिर्वाण की १३ वीं शती के उत्तरार्ध से जिनमार्ग में जो मतभेदों का और आचारमार्ग से पतन का साम्राज्य बढ़ा उसे कोई रोक नहीं सका।

वर्तमान आगमों में से "आचारांग" और "सूत्रकृतांग" ये दो सूत्र मौर्यकालीन प्रथम आगमवाचना के समय में लिखे हुए हैं। इन दो में से

“आचारांग” में केवल एक “पासत्या” शब्द आचारहीन साधु के लिए प्रयुक्त हुआ उपलब्ध होता है, तब “सूत्रकृतांग” में एक शब्द जो आचारहीनता का सूचक है अधिक बढ़ गया है। वह शब्द है “कुशल”।

उपर्युक्त दो सूत्रों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्रों में “पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न, संशक्त, और यथाछन्द” इन पांच प्रकार के कुगुरुओं की परिगणना हुई; परन्तु आगे चलकर “नियय” अर्थात् “नियत” रूप से “वसति” तथा “आहार” आदि का उपभोग करने वालों की छठे कुगुरु के रूप में परिगणना हुई। यह सब होने का मूल कारण गृहस्थों का संघ में प्रवेश और उनके कारण से होने वाला एक दूसरे का पक्षपात है। साधुओं के समुदाय जो पहले “गण” नाम से व्यवहृत होते थे “गच्छ” बने और “गच्छ” में भी पहले साधुओं का प्राबल्य रहता था वह धीरे-धीरे गृहस्थ श्रावकों के हाथों में गया, गच्छों तथा परम्पराओं का इतिहास बताता है कि कई “गच्छपरम्पराएं” तो केवल गृहस्थों के प्रपञ्च से ही खड़ी हुई थी, और उन्होंने श्रमणगणों के संघटन का भयंकर नाश किया था। मामला यहीं समाप्त नहीं हुआ, आगमों का पठन पाठन जो पहले श्रमणों के लिए ही नियत था, श्रावकों ने उसमें भी अपना दखल शुरू कर दिया, वे कहते — अमुक प्रकार के शास्त्र गृहस्थ-श्रावक को क्यों नहीं पढ़ाये जायें? मर्यादाक्षक आचार्य कहते — श्रावक सुनने के अधिकारी हैं, वाचना के नहीं, फिर भी कतिपय नये गच्छ वालों ने अमुक सीमा तक गृहस्थों को सूत्र पढ़ाना, सुनाना प्रचलित कर दिया, परिणाम जो होना था वही हुआ, कई सुधारक नये गच्छों की सृष्टि हुई और अन्वाधुन्ध परिवर्तन होने लगे, किसी ने सूत्र-पंचांगी को ही प्रमाण मानकर परम्परागत आचार-विधियों को मानने से इन्कार कर दिया, किसी ने द्रव्य-स्तव भावस्तवों का बखेड़ा खड़ा करके, अमुक प्रवृत्तियों का विरोध किया, तब कइयों ने आगम, परम्परा दोनों को प्रमाण मानते हुए भी अपनी तरफ से नयी मान्यताएं प्रस्तुत करके मौलिकता को तिरोहित करने की चेष्टा की, इस अन्वाधुन्ध मत सर्जन के समय में कतिपय गृहस्थों को भी साधुओं के उपदेश और आदेशों

का विरोध कर अपनी स्वयं की मान्यताओं को मूर्त रूप देकर अपने मत गच्छ स्थापित करने का उत्साह बढ़ा। ऐसे नये मतस्थापकों में से यहां हम दो मतों की चर्चा करेंगे, एक "लौकामत" की और दूसरी "कडुवामत" की। पहला मत मूर्तिपूजा के विरोध में खड़ा किया था, तब दूसरामत वर्तमानकाल में शास्त्रोक्त आचार पालने वाले साधु नहीं हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिये।

## लौका कौन थे ?

लौकागच्छ के प्रादुर्भावक लौका कौन थे ? यह निश्चित रूप से कहना निराधार होगा। लौका के सम्बन्ध में प्रामाणिक बातें लिखने का आधारभूत कोई साधन नहीं है, क्योंकि लौकाशाह के मत को मानने वालों में भी इस विषय का ऐकमत्य नहीं है। लौका के सम्बन्ध में सर्वप्रथम लौकागच्छ के यतियों ने लिखा है पर वह भी विश्वासपात्र नहीं। बीसवीं शती के लेखकों में शाह वाडीलाल मोतीलाल, स्थानकवासी साधु मणिलाल-जी आदि हैं, पर ये लेखक भी लौका के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दिशाओं में भटकते हैं। शाह वाडीलाल मोतीलाल लौकाशाह का जन्म अहमदाबाद में हुआ मानते हैं और इनको बड़ा भारी साहूकार एवं शास्त्र का बड़ा मर्मज्ञ विद्वान् मानते हैं, तब स्थानकवासी साधु मुनिश्री मणिलालजी अपनी पट्टावली में लौका का जन्म "अहटवाडा" में हुआ बताते हैं और लिखते हैं -

अहमदाबाद में आकर लौका बादशाह की नौकरी करता था और कुछ समय के बाद नौकरी छोड़ कर पाटन में यति सुमतिविजय के पास वि० सं० १५०६ में यतिदीक्षा ली थी और अहमदाबाद में चातुमांस्य किया था, परन्तु वहां के जैनसंघ ने यति लौका का अपमान किया, जिससे वे उपाश्रय को छोड़ कर चले गये थे।

इसके विपरीत लौका के समीपवर्ती काल में बने हुए चौपाई, रास आदि में लौकाशाह को गृहस्थावस्था में हो परलोकवासी होना लिखा है। इन परस्पर विरोधी बातों को देखने के बाद लौकाशाह

के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से अभिप्राय व्यक्त करना साहस मात्र ही माना जायगा ।

## लौकाशाह और इनका मन्तव्य

लौकाशाह का अपना खास मन्तव्य क्या था, इसको इसके अनुयायी भी नहीं जानते । लौका की मौलिक मान्यताओं का प्रकाश उनके समीपकालवर्ती लेखकों की कृतियों से ही हो सकता है, इसलिए पहले हम लौका के अनुयायी तथा उनके विरोधी लेखकों की कृतियों के आधार से उनके मत का स्पष्टीकरण करेंगे ।

लौकागच्छीय यति श्री भानुचन्द्रजी-कृत “दयाधर्म चौपाई” के अनुसार लौका के मत की हकीकत -

यति भानुचन्द्रजी कहते हैं - “भस्मग्रह के अपार रोष से जैनधर्म ग्रन्थकारावृत्त हो गया था । भगवान् महावीर का निर्वाण होने के बाद दो हजार वर्षों में जो जो बरतारे बरते उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कहेंगे, जब से शाह लौका ने धर्म पर प्रकाश डाला और दयाधर्म की ज्योति प्रकट हुई है उसके बाद का कुछ वर्णन करेंगे । १।२।”

“सीराष्ट्र देश के लीवड़ी गांव में डुङ्गर नामक दशा श्रीमाली गृहस्थ बसता था । उसकी स्त्री का नाम था चूड़ा । चूड़ा वड़े उदार दिल की स्त्री थी, उसने संवत् १४८२ के वंशाख वदि १४ को एक पुत्र को जन्म दिया और उसका नाम दिया लौका । लौका जब आठ वर्ष का हुआ तब उसका पिता शा. डुंगर परलोकवासी हो गया था । ३।४।”

“लौका की फूफी का बेटा लखमसी नामक गृहस्थ था, जिसने लौका का धनमाल अपने कब्जे में रक्खा था । लौका की उम्र १६ वर्ष की हुई तब उसकी माता भी स्वर्ग सिंघार गई । लौका लीम्बड़ी छोड़कर ग्रहमदाबाद आया और वहां नाणावट का व्यापार करने लगा । हमेशा वह धर्म सुनने और पीपघशाला में जाता और त्रिकाल-पूजा, सामायिक करता, व्या-

ख्यान में वह साधुओं का आचार सुनता, परन्तु उस समय के साधुओं में शास्त्रोक्त-आचार पालन न देखकर उनको पूछता-आप कहते तो सही हैं परन्तु चलते उससे विरुद्ध हैं, यह क्या? लौका के इस प्रश्न पर यति उसको कहते-धर्म तो हमसे ही रहता है, तुम इसका मर्म क्या जानो। तुम पांच आश्रवसेवतो हो और साधुओं को सिखामन देने निकले हो। ५६।७।८।”

“यति के उक्त कथन पर शाह लौका ने कहा-शास्त्र में तो दया को धर्म कहा है, पर तुम तो हिंसा का उपदेश देकर अघर्म की स्थापना करते हो? इस पर यति ने कहा-फिट् भण्डे! हिंसा कहां देखी? यति के समान कोई दया पालने वाला है ही नहीं। लौका ने यति के उत्तर को अपना अपमान माना और साधुओं के पास पौषधशाला जाने का त्याग किया। स्थान-स्थान वह दया-धर्म का उपदेश देता, और कहता-आज ही हमने सच्चा धर्म पाया है। दूकान पर बैठा हुआ भी वह लोगों को दया का उपदेश दिया करता, जिसे सुनकर यति लोग उसके साथ क्लेश किया करते थे, पर लौका अपनी धुन से पीछे नहीं हटा। फलस्वरूप संघ के कुछ लोग भी उसके पक्ष में मिले, बाद में शाह लौका अपने वतन लींबड़ी गया, लींबड़ी में लौका को फूफी का बेटा लखमसी कारभारी था, उसने लौका का साथ दिया और कहा-हमारे राज्य में तुम धर्म का उपदेश करो। दया-धर्म ही सब धर्मों में खरा धर्म है। ६।१० ११।१२”

“शाह लौका और लखमसी के उद्योग से बहुत लोग दया-धर्मी बने। इतने में लौका को भाणा का संयोग मिला। लौका बुढ़ा होने आया था, इसलिए उसने दीक्षा नहीं ली, परन्तु भाणा ने साधु का वेष ग्रहण किया और जिसका शाह लौका ने प्रकाश किया था उस दया-धर्म की ज्योति भाणा ने सर्वत्र फैलायी। शाह लौका संवत् १५३२ में स्वर्गवासी हुए। १३।१४।”

“दया-धर्म जयवन्त है, परन्तु कुमति इसकी निन्दा और बुराईयां करते हैं, कहते हैं-‘लौका साधुओं को मानने का निषेध करता है, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा और दान को नहीं मानता।’ परन्तु हे



कुमतिथो ! यह क्या कहते हो ? लौका ने किस बात का खण्डन किया है, वह समझ तो लो । “लौका सामायिक को दो से अधिक बार करने का निषेध करता है, एवं विना पौषध का निषेध करता है, व्रत विना प्रति-क्रमण करने का निषेध करता है । वह भाव-पूजा से ज्ञान को अच्छा बताता है, वह द्रव्य-पूजा का निषेध करता है, क्योंकि उसमें धर्म के नाम से हिंसा होती है । ३२ सूत्रों को वह सच्चा मानता है, समता-भाव में रहने वालों को वह साधु कहता है ।” उक्त प्रकार से लौका का धर्म सच्चा है, परन्तु भ्रम में पड़े हुए मनुष्य उसका मर्म नहीं समझते । १५। १६।१७।१८।१९।”

“जो कुमति है वह हठवाद करता है, जैसे बिच्छू के काटने से उन्मादी हुआ बन्दर । झूठ बोलकर जो कर्म बांधता है वह धर्म का सच्चा मर्म नहीं जानता । यतना में धर्म है और समता में धर्म है, इनको छोड़कर जो प्रवृत्ति करते हैं वे कर्म बांधते हैं, जो परनिन्दा करते हैं वे पाप का संचय करते हैं, जिनमें समता नहीं है उनके पास धर्म नहीं रहता । श्रीजिनवर ने दया को धर्म कहा है, शाह लौका ने उसको स्वीकार किया है और हम उसी की आज्ञा को पालते हैं, यह तुमको बुरा क्यों लगता है ? क्या तुम दया में पाप मानते हो जो इतना विरोध खड़ा कर दिया है, तुम सूत्र के प्रमाण देखो, दया विना का धर्म नहीं होता । जो जिन आज्ञा का पालन करते हैं, उनको मेरा नमस्कार हो । मेरे इस कथन से जिनके मन में दुःख हुआ हो उनके प्रति मेरा मिथ्यादुष्कृत हो । सं० १५७८ के माघ सुदी ७ को यति भानुचन्द्र ने अपनी बुद्धि के उल्लास से लौका के दया-धर्म पर यह चौपाई लिखी है, जो पढ़ने वालों के मन का उल्लास बढ़ाये । २०।२१।२२। २३।२४।२५।”

ऊपर जिसका सारांश लिखा है उस दया-धर्म चौपाई से शाह लौका का जीवन कुछ प्रकाश में आता है । उसका जन्म-गांव, माता-पिता के नाम और जन्म-समय पर यह चौपाई प्रकाश डालती है । लौका अरहट-वाड़ा में नहीं पर लीम्बड़ी (सीराष्ट्र) में जन्मे थे, उनका जन्म १५वीं शती के अन्तिम चरण में हुआ था । अपनी २८ वर्ष की उम्र में उसने यतियों

से विरुद्ध होकर उनके सामने “दया-धर्म के नाम से अपना मूर्तिपूजा विरोधी मत स्थापित किया था” और २२ वर्ष तक उन्होंने महेता लखमसी के सह-कार से उसका प्रचार किया। सं० १५३२ में अपने पीछे भाणजी को छोड़कर लौका परलोकवासी हुए। भाणजी ने साधु का वेश लौकाशाह के जीवनकाल में धारण किया था या उनके स्वर्गवास के बाद? इसमें दो मत प्रतीत होते हैं। उक्त “दया-धर्म चौपाई” में लौका यति भानुचन्द्रजी ने सं० १५३२ में लौकाशाह का स्वर्गवास माना है। लौकाशाह ने खुद ने दीक्षा नहीं ली पर भाणा ने वेष-धारण किया था ऐसा चौपाई में लिखा है। इसके विपरीत लौकागच्छ के यति केशवजी-कृत लौकाशाह के सिलोके में लौका द्वारा सं० १५३३ में भाणजी को दीक्षा देने और उसी वर्ष में लौका के स्वर्गवास प्राप्त करने का लिखा है। केशवर्षि-कृत लौकाशाह-सिलोके में लेखक ने कुछ ऐतिहासिक बातें भी लिखी हैं इसलिए सिलोका के आधार से लौकामत को कुछ बातें लिखते हैं—

सौराष्ट्र में नागनेरा नदी के तट पर आए एक गाव में हरिचन्द्र नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम भूंगोबाई था। पूनमीया गच्छ के गुरु की सेवा से और शय्यद के आशीर्वाद से सं० १४७७ में उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम “लक्खा” दिया गया। लक्खा ज्ञानसागर गुरु की सेवा करता हुआ पढ़-लिखकर “लहिया” बना और वहीं पुस्तक लिखने का काम करने लगा। इस कार्य में लक्खा को द्रव्य की प्राप्ति होती थी, श्रुत की भक्ति होती थी, और ज्ञान-शक्ति भी बढ़ती थी। आगम लिखते-लिखते उसके मन में शंका उत्पन्न हुई कि “आगम में कहीं भी दान देने का विधान नहीं दीखता, प्रतिमा-पूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पोषध भी मूल सूत्रों में कम दीखता है।” राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी तथा तुंगिया नगरो के श्रावक जो तत्त्वगवेषी थे उनमें से किसी ने प्रतिक्रमण नहीं किया, न किसी को दान दिया। सामायिक और पूजा एक ठट्टा है, और यतियों की चलाई हुई यह पोल है, प्रतिमा-पूजा बड़ा सन्ताप है, इसको करके हम धर्म के नाम पर थप्पड़ खाते हैं। लक्खा को लोग “लुम्पक” कहते हैं सो ठीक ही है, क्योंकि वह अविधि का लोप करने वाला है।

लखा का दूसरा नाम लऊका भी है। वह संयत नहीं है, फिर भी यति से अधिक है। लोगों ने लौका-मत को परख लिया है।

सं० १५०८ में सिद्धपुर में लौका ने खोज-पूर्वक शुद्ध जिन मत की स्थापना की है। लौका मत प्रसिद्ध हुआ। बादशाह मुहम्मद लुंका-मत को प्रमाण मानता है। सूबा, सेवक सब कोई इसको मानते हैं और लखा गुरु के चरणों में शिर नवाते हैं।

उस समय सोरठ देश में लीम्बड़ी गांव का लखमसी नामक एक कामदार था, उसने लुंकागुरु का उपदेश ग्रहण किया और देश-विदेश में विस्तार किया। इस मत के सम्बन्ध में जो कोई वाद-विवाद करता है तो न्यायाशील भी 'लौका' का पक्षपात करता है।

!सं० १५३३ के वर्ष में लौका-मत के प्रादुर्भावक शाह लौका ने ५६ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास प्राप्त किया और १५३३ में ही लौका ने भाणजी को शिक्षा दी थी।" भाणजी ऋषि सत्य का और जीव-दया का प्रचार करते थे। वर्धमान की पेढी के नायक बनकर भाणजी ऋषि देश-विदेश में विचरते थे और अब तक उनकी शुद्ध परम्परा चलती है।



## लौकान्छ की पहावली (१)

सिलोके में केशवजी कहते हैं - अन्तिम तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान के गुणवान् ११ गणधर हुए इसलिए उनकी पाट-परम्परा कहते हैं -

१ महावीर के पंचम गणधर सुधर्मास्वामी हुए ।

२ सुधर्मा के शिष्य गुणवान् जम्बू हुए ।

३ जम्बू के प्रभव, ४ प्रभव के शय्यम्भव, ५ यशोभद्र, ६ संभूति, ७ बाहुस्वामी, ८ स्थूलभद्र, ९ महागिरि, १० सुहस्ती, ११ बहुल और १२ बल्लिस्सह स्वाति, १३ कालिकसूरि, १४ स्कन्दिलस्वामी, १५ आर्यसमुद्र, १६ श्रीमंगू, १७ श्रीधर्म, १८ भद्रगुप्त, १९ वज्रस्वामी, २० सिंहगिरि, २१ वज्रसेन, २२ चन्द्र, २३ समन्तभद्र, २४ मल्लवादी, २५ वृद्धवादी, २६ सिद्धसेन, २७ वादीदेव, २८ हेमसूरि, २९ जगच्चन्द्रसूरि, ३० विजयचन्द्र, ३१ खेमकीर्तिजी, ३२ हेमजीस्वामी, ३३ यशोभद्र, ३४ रत्नाकर, ३५ रत्नप्रभ, ३६ मुनिशेखर, ३७ धर्मदेव, ३८ ज्ञानचन्द्रसूरि ।



## लौकागच्छ की पट्टावली (१)

हमारे भण्डार में श्री कल्पसूत्र मूल की एक हस्तलिखित प्रति है, उसके अन्तिम पत्र १७२ से १७४ तक में लौकागच्छीय पट्टावली दी हुई है। यह कल्पसूत्र सं० १७६४ में लिखा गया था ऐसा इसकी निम्नोद्धृत पुष्पिका से ज्ञात होता है -

“इति कल्पसूत्र समाप्त “छ” श्री श्री संवत् १७६४ वर्षे शा० १६६० प्रवर्तमाने चैत्रमासे, कृष्णपक्षे ६ गुरौ लि० पूज्य श्री ५ नाथाजी, तत् शिष्य ५ मनजीजी तत् शिष्य श्री ५ मूलजी, गुरुभ्राता प्रेमजी लियो कृतं स्वात्मार्ये ।”

उपर्युक्त पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह पट्टावली आज से लगभग सवा दो सौ वर्ष पहले लिखी गई है और इसके लिखने वाले लौकागच्छ के श्रीपूज्य मूलजी के गुरुभाई प्रेमजी यति थे। पट्टावली का प्रारम्भ श्री स्थूलभद्रस्वामी से किया है, अन्य पट्टावली-लेखकों की तरह इसके लेखक ने भी अनेक युगप्रधानों के नामों तथा समयनिरूपण में गोलमाल किया है; फिर भी हम इसमें कुछ भी मौलिक परिवर्तन न करके पट्टावली को ज्यों का ज्यों उद्धृत करते हैं -

॥६॥ तत् पटे श्री स्थूलभद्रस्वामीऽत्र स्थूलभद्रजीकथा सर्वं जाणवी  
॥७॥ दशपूर्ववारो महावीर पछी १७० वर्षे देवलोक पहुँतो ॥ तत्पटे अर्य  
महागिरी १० पूर्ववर, ॥८॥ तत्पट्टे आर्य सुहस्तस्वामी, ॥९॥ तत्पट्टे श्री  
गुणगार स्वामी, ॥१०॥ तत्पट्टे श्री कालिकाचार्य, ॥११॥ तत्पट्टे श्री संडिल-  
स्वामी, ॥१२॥ तत्पट्टे श्री रेवतगिरस्वामी, ॥१३॥ तत्पट्टे सौधर्माचार्य,

॥१४॥ तत्पट्टे श्रीगुप्तास्वामी, ॥१५॥ तत्पट्टे श्री आर्यमंगुस्वामी, ॥१६॥  
 तत्पट्टे श्री आर्यसुधर्मस्वामी, ॥१७॥ तत्पट्टे श्री वृद्धवादधरस्वामी, ॥१८॥  
 तत्पट्टे श्री कुमुदचन्द्रस्वामी, ॥१९॥ तत्पट्टे श्री सिंहगिरिस्वामी, ॥२०॥  
 तत्पट्टे श्री वयरस्वामी दशपूर्वधर, ॥२१॥ तत्पट्टे श्री भद्रगुप्ताचार्य स्वामी,  
 ॥२२॥ तत्पट्टे श्री आर्यनन्द स्वामी, ॥२३॥ तत्पट्टे श्री आर्यनागहस्ती  
 स्वामी, ॥२४॥ तेणे वारे बीजी पट्टावलीमां सत्तावीसमे पाट देवर (धि)  
 गरिण जेणे सर्वं सूत्र पुस्तके चढाव्या ते समस्थ ज.ए.व्यो, आर्यनागहस्ती,  
 तत्पट्टे श्री रेवतस्वामी, ॥२५॥ तत्पट्टे श्री ब्रह्मविद्यस्वामी, ॥२६॥ तत्पट्टे  
 श्री संडिलसूरि, ॥२७॥ तत्पट्टे श्री हेमवन्तसूरि, ॥२८॥ तत्पट्टे श्री नागा-  
 र्जुनस्वामी, ॥२९॥ तत्पट्टे श्री गोवन्दवाचक स्वामी, ॥३०॥ तत्पट्टे श्री  
 संभूतिदिनवाचक स्वामी, ॥३१॥ तत्पट्टे श्री लोहगिरिस्वामी, ॥३२॥ तत्पट्टे  
 श्री हरिभद्रस्वामी, ॥३३॥ तत्पट्टे श्री सिलंगाचार्यस्वामी ॥३४॥

तिवारपनी (छी) १२ दुकाली जोगे पाट लोहडीवडी पोसाल मां  
 चाल्या जावत् पौशालिक धर्म प्रवर्त्यो । पौशालिक कालि माहात्मा नाम-  
 धरवुई छे ॥ पाट ३३ । ३४ सूधी पूर्वधर छे, पछे पूर्व विद्या ढांकी पोसाल  
 प्रवर्ति जातां जातां पाट १० । १२ पोसाल मां थया, तिणे समें सूत्रने ढांकी  
 अनेरा देहेरा पोशालना माहातम ग्रन्थकरी पूजाऽर्चा धर्म चलाव्यो, वीर  
 पछी १२ सौं वर्षे देहेरा प्रवर्त्या, जावत् महावीर पछी बेसहस्र वर्ष बुझो  
 तिहां सूधी पौशाल धर्म प्रवर्तना थई ॥ तेणे समें श्री गुजर देशें अणहल्लपुर  
 पाटन नें धिषे मोटी पौशाल सूरि सूरपाट प्रवर्ति थई, तेणे समे ते नगरमां  
 लोकासाह इसइं नामइं विवहारी वसे छे, जावत सिद्धवंत छे, लिखत कला  
 छे, ते माटे एकदा समे सूरि सूरें सिद्धान्त परत जुनी थाई जांणी लका  
 साहनें लिखवा दीधी, ते लिखतां वीरवांणी सिधांत जाण्यो, १ परत पोती  
 ने अर्थ लिखें, १ परत सूरिसर ने लिखी देयें, एम करतां ३२ सूत्र लिख्यां,  
 तेणे समे सूरिशरे जाण्यो ते पोतानो प्रति पण लिखे छे पछे मंडारमांथी  
 लिखवा दीधी नहीं । पाटन ना भंडार मां ८४ सूत्र छे. बीजी आगमोक्त  
 सर्वं विद्यापण छे, पण ३२ सूत्र लकेसाहि लिख्यांति श्रावक आगेवांची  
 साधना गुण विषाडे ॥ वीरवाणी ओजखाववे इय करतां केतलाक सूत्र रचि

श्रावक थया, साध मूर्त मानता थया, तेणे समय मारवाड थी एक संघ सेत्रुजानी जात्राईं जाईं, तेमां ८ संघ मुह्नी छे, भाणा, भीदा, जगमाल, सरवा प्रमुख ते पाटण आख्या, ते लकासाह नो नवीन धर्म प्रबोध सांभलवा आख्या, तेणे प्रबोध दई सिद्धांत प्रोत्साव्यो, तेणे पोसाली धर्म, देहरों, प्रतमा पुजा मुकी, साधथया, तारे लके साही सूत्र ३३ साधनें ते सूर्या हवे, तुम्यो वाचो धर्म धुरंधर, त्यांर पही भाणादिक साधे वीरधर्मवाणी साधु धर्म देशे २ प्रवर्तना कीधी, इम सूरसरें जाण्यो जे सर्वे ए धर्म ग्रहसे, तारि पोसालमांथी पाटधारी सूरि क्रियाउधारो निकल्या, नाम 'तपगच्छ' धरारणी, इम करतां भाणा, भीदाना साधप्रवर्त्या, तेणे आचार्य-पद धरयो लके साहि धर्म प्रवर्ताव्यो ते माटे आचार्ये "लुंका नामे गच्छ स्थापना कीधी" लुंकागच्छ स्थापना जाणवी । श्रीवीरवाणी महापद्मवणा सूत्र मां तथा दुसरा ग्रन्थ मां कह्यो छे, जे पंचमा आरा मां 'रूपा, जीवा दो आरीया भवई", ते आचार्य अमेना साध धर्म प्रवर्त्या, तेणे सभे संवत् १५०० मध्ये दक्षण देशे निकलंकी राजा ने धरे धर्मदत्त पुत्र उपनो, लोक मां बुध अवतारे कहवांणो, गुप्त पणे साधुधर्म प्रकासे, जिनशासन धर्मउदे करी संबुध कला ज्ञानप्रकासी पाचमां देवलोके देवता थया । तेलकगच्छ मां थया, तीर्थ गौत्री ते वीरवाणी सूत्र मांही छे, ते रूप रूष धर्म धुरंधर मंहत पुरुष धर्माचार्य भवप्राणो उवारक थया तिल (तेह) ना पाट लिखिये छे ॥ छ ॥

प्रथम पाट युगप्रधान श्री ६ श्री रूपरखजी (१), तत्-ट्टे श्री युगप्रधान श्री ६ जीवरुषजी जी ॥२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ वरुद्धवरसंगजी ॥३॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री सधुषरसंगजी ॥४॥, तत्पट्टे यु० जसवंतजी ॥५॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ रूपसिंहजी ॥६॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ दामोदरजी ॥७॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री कृमसिंहजी ॥८॥, तत्पट्टे युग० श्री ६ केशवजी ॥९॥, तत्पट्टे यु० प्लेजसिंहजी ॥१०॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ लक्ष्यमचंद्रजी ॥११॥, तत्पट्टे श्री ६ श्री दुलसिंहजी ॥१२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री जगरूपजीजी जय-जयवन्त, अस्मिन् जंबुद्वीपे अस्मिन् भरतक्षुण्डे, दक्षण भरते, अस्मिन् देशे, अस्मिन् ग्रामनगरे, अस्मिन् चतुमसि चतुर्विध संग धर्म प्रबोधित तेहुना

गुणकीर्तिनां करतां संघ ने यभं (परम) कल्याणनी कोड हृईं ॥श्रीरस्तु॥  
 तत्पट्टे श्री ६ श्री जगज्जीवनजी, तत्पट्टे श्री मेघराजजी, तत्पट्टे युगप्रधान  
 जयवंता श्री ६ श्री सोमचंदजी, तत्पट्टे श्री ६ श्री हर्षचन्द्रजी, तत्पट्टे  
 श्री ६ युगप्रवर्तक जयचन्द्रजी, तत् श्री युगप्रवर श्री ६ कल्याणचन्द्र  
 सूरिसर छे ॥”





# लौकागच्छ की पञ्चावली (३)

( बड़ोदे की गादी )

तपगच्छ की बड़ी पीशाल के आचार्यं ज्ञानसागरसूरि के पुस्तक-लेखक लौका गृहस्थ ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध में अपना लौकामत खलाया, उसके मतानुयायी ऋषि नामक वेशधारियों की एक परम्परा नीचे मुजब है -

१. भारणजी ऋषि
२. मोदाजी ”
३. नूनाजी ”
४. भीमाजी ”
५. जगमालजी ”
६. सर्वाजी ”
७. रूपजी ”
८. जोधाजी ”

(१) ६. वरसिंहजी (बृद्ध) को सं० १६१३ के ज्येष्ठ वदि १३ को बड़ोदे के भावसारों ने श्रीपूज्य का पद दिया, तब से उनकी गादी बड़ोदे में स्थापित हुई और “गुजराती लौकागच्छ मोटीपक्ष” ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ। इसी दर्म्यान ग्रहमदाबाद के मूल गादी के श्रीपूज्य कुंदरजी ऋषि के उत्तराधिकारी श्री मेघजी ऋषि ने २६ ऋषियों के साथ आचार्यं श्री हीरसूरि के पास दीक्षा स्वीकार की, सं० १६२८ में।

(२) १० वरसिंहजी ऋषि (लघु) दूसरे वरसिंहजी जिनका स्वर्गवास

१६५२ में हुआ था, के शिष्य कलाजी ने भी संवेग-  
मार्ग स्वीकार किया था जो विजयानन्दसूरि के  
नाम से प्रसिद्ध हुए थे ।

११. यशवन्त ऋषि
१२. रूपासिहजी ,,
१३. दामोदरजी ,,
१४. कर्मसिहजी ,,
१५. केशवजी ,, गुजराती लौकागच्छ के बड़े पक्ष का दूसरा  
नाम "केशवजी पक्ष" भी है ।
१६. तेजसिहजी ,,
१७. कानजी ,,
१८. तुलसीदासजी ,,
१९. जगरूपजी ,,
२०. जगजीवनजी ,,
२१. मेघराजजी ,,
२२. सोमचन्दजी ,,
२३. हरकचन्दजी ,,
२४. जयचंदजी ,,
२५. कल्याणचन्दजी ,,
२६. खूबचन्दजी ,,
२७. श्रीपूज्य न्यायचन्द्रसूरि



# बालापुर की गादी की लौका पट्टावली (४)

८. ऋषि जीवाजी

९. ,, कुंभराजी - इनको बालापुर के श्रावकों ने श्रीपूज्य का पद दिया, तत्र से इनकी गादी बालापुर में स्थापित हुई और "गुजराती लौकापक्ष का छोटा पक्ष" इस नाम से वह प्रसिद्ध हुई। इनके शिष्य ऋषि मेघजी अहमदाबाद की गादी ऊपर थे, जिन्होंने सबेगो-माग प्रहण किया था।
१०. ,, श्रीमलजी
११. ,, रत्नसिंहजी
१२. ,, केशवजी - स्व० सं० १६८६ में।
१३. ,, शिवजी - इनके शिष्य धर्मसिंह के शिष्य धर्मदासजी ने "दुष्टिद्या" मत चलाया।
१४. ,, संभराजजी - स्व० सं० १७२५ में। आनन्द ऋषि ने अपने शिष्य ऋषितिलक को श्रीपूज्य बनाकर नया गच्छ स्थापित किया जो "अठारिया" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।
१५. ,, सुखमलजी - स्वर्ग सं० १७६३ में।
१६. ,, भागचन्द्रजी
१७. ,, बालचंदजी
१८. ,, मारिणक्यचंदत्री
१९. ,, मूलचंदजी - स्वर्ग सं० १८७६
२०. ,, जगतचंदजी
२१. ,, रतनचंदजी
२२. ,, नृपचंदजी - (मुनि मणिलाल-कृत "प्राचीन संक्षिप्त इतिहास")



# गुजराती लौकिकगच्छ की पहावली (१)

( पू० जयराजजी )

( पू० ) ऋ० मेघराजजी )

( „ „ कृष्णाजी )

( „ „ वगलमलजी )

( „ „ परसरामजी )

( „ „ ज्योतिरूपजी ) सं० १८६५

( „ „ हर्षजी )

( „ „ जिनदासजी ) सं० १९१० आगरा



# केशवर्षि वरिणीत लौकागच्छ की पञ्चावली (६)

भाणाजी ऋषि के पाट पर सुबुद्धिमद्र ऋषि हुए ।

भीमाजी स्वामी  
जगमाल ऋषि  
सर्वा स्वामी

इस समय कुमति बीजा पापी निकला जिसने फिर जिन-प्रतिमा की स्थापना की । सर्वा स्वामी के बाद-रूपजी ।

जीवाजी ।  
कुंवरजी ।

श्रीमलजी ऋषि जो विचर रहे हैं, इन पूज्य के चरणों को प्रणाम करके केशव ने यह गुरुपरम्परा गाई है ।

उपर्युक्त लौकाशाह-सिलोका के लेख के श्री केशवजी ऋषि ने श्रीमलजी को अपना गुरु बताया है और श्रीमलजी लौकाशाह के आठवें पट्टघर श्री जीवर्षि के तीन शिष्यों में से एक थे, इससे सिलोका के लेखक-केशवजी सं. १६०० के आसपास के व्यक्ति होने चाहिए । इनसे २५-३० वर्ष पूर्ववर्ती लौका-मच्छीय यति भानुचन्द्रजी लौका की मान्यता के सम्बन्ध में मन्दिर-मार्गियों की तरफ से होने वाले आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहते हैं—  
“लौका यतियों को नहीं मानता, लौका सामायिक, पौषघ, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा, दान नहीं मानता इत्यादि ।” क्या कहा ? लुंका ने क्या उत्थान किया है ? वह तो दो बार से अधिक बार सामायिक करने, पर्वदिन बिना पौषघ करने, १२ व्रत बिना प्रतिक्रमण करने, आगार-सहित-

प्रत्याख्यान करने और असंयत को दान देने का निषेध करता है। तब भानुचन्द्रजी से बाद में होने वाले केशवजी ऋषि मन्दिर-मार्गियों की तरफ से किये जाने वाले आक्षेपों का खण्डन न करके अपने लौकाशाह के सिलोका की गाथा १३, १४, १५ में उनका समर्थन करते हैं। वे कहते हैं—“दान देने में आगम साक्षी नहीं है। प्रतिमापूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पौषध भी आगम में नहीं है। राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी और तत्त्व-गवेषक तुंगिया के श्रावकों में से किसी ने प्रतिक्रमण नहीं किया, न पर को दान दिया। सामायिक पूजा यह ठट्टा है और यतियों की चलाई हुई पोल है, प्रतिमा-पूजा सन्ताप रूप है तो इसको करके हम धर्म को थप्पड़ क्यों लगाएं? यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि की इन परस्पर विरोधी बातों से मालूम होता है कि लौकाशाह की मान्यताओं के सम्बन्ध में होने वाले आक्षेप सत्य थे। यदि ऐसा नहीं होता तो केशवजी ऋषि उनका समर्थन नहीं करते, इसके विपरीत यति भानुचन्द्रजी ने इन आक्षेप-जनक बातों का रूपान्तर करके बचाव किया है। इससे निश्चित होता है कि लौका की प्रारम्भिक मान्यताओं के सम्बन्ध में लौका के अनुयायी ऋषियों में ही बाद में दो मत हो गये थे, कुछ तो लौकाशाह के वचनों को द्रक्षरशः स्वीकार्य मानते थे, तब कतिपय ऋषि उनको सापेक्ष बताते थे। कुछ भी हो एक बात तो निश्चित है कि कोई भी लौका का अनुयायी लौका के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं रखता था। यति भानुचन्द्रजी ने लौका के सम्बन्ध में जो कुछ खास बातें लिखी हैं, केशवजी ऋषि ने अपने लौका-सिलोका में उनसे बिल्कुल विपरीत लिखी हैं। भानुचन्द्रजी लौका का जन्म सं० १४८२ के वैशाख वदि १४ को लिखते हैं, उसका गांव लीम्बड़ी, जाति दशा श्रीमाली और माता-पिता के नाम शाह डुंगर और चूड़ा लिखते हैं तथा लौका का परलोकवास १५३२ में हुआ बताते हैं। इसके विपरीत केशव-ऋषि लौका का गांव नागनेरा नदी के तट पर बताते हैं और माता पिता के नाम सेठ हरिचन्द्र और भूंगीबाई लिखते हैं, लौका का नाम लखा लिखते हैं और उसका जन्म १४७७ में बताते हैं और लौका का स्वर्गवास सं० १५३३ में होना लिखते हैं। इस प्रकार लौकाशाह के निकटवर्ती अनुयायी ही उनके सम्बन्ध में एक-मत नहीं थे तो अन्य गच्छ

तथा सम्प्रदाय की मान्यता का निर्देश करके इस विषय को बढ़ाना तो बेकार ही होगा ।

लौका के जन्म-स्थान और जाति के सम्बन्ध में तो इतना अज्ञान छाया हुआ है कि उसका किसी प्रकार से निर्णय नहीं हो सकता । कोई इनको दशा-श्रीमाली और लीम्बड़ी में जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको ओसवाल जातीय अरहटवाड़ा का जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको दशा-पोरवाल जाति में पाटन में जन्मा हुआ मानते हैं । कोई इनको नाग-नेरा नदी-तट के गांव में जन्म लेने वाला मानते हैं, कोई इनको जालोर भारवाड़ समीपवर्ती पौषालिया निवासी मानते हैं, कोई इनका जन्म-स्थान जालोर को मानते हैं, तब स्वामी जेठमलजी, श्री अमोलक ऋषिजी, श्री सन्तबालजी और शा० वाड़ीलाल मोतीलाल लौकाशाह को अहमदाबाद निवासी मानते हैं ।

पूर्वोक्त लौकाशाह के संक्षिप्त निरूपण से इतना तो निश्चित हो जाता है कि लौकाशाह १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से १६वीं शती के द्वितीय चरण तक जीवित रहने वाले एक गृहस्थ व्यक्ति थे । लौका ने मूर्ति-पूजा के अतिरिक्त अनेक बातों को अशास्त्रीय कहकर खण्डन किया था, परन्तु उनके अनुयायी ऋषियों ने एक मूर्तिपूजा के अतिरिक्त शेष सभी लौका द्वारा निषिद्ध बातों को मान्य कर लिया था और कालान्तर में लौकागच्छ के अनुयायी यतियों और गृहस्थों ने मूर्तिपूजा का विरोध करना भी छोड़ दिया था । आज तक कई स्थानों में लुंकागच्छ के यति विद्यमान हैं जो मूर्तियों के दर्शन करते हैं और उनकी प्रतिष्ठा भी करवाते हैं और लौका-गच्छ का अनुयायी गृहस्थवर्य जिन-मूर्तियों को पूजा भी करता है ।



## लौकागच्छ और स्थानकवासी

लौकागच्छ के अनुयायी यति और गृहस्थ जब लौका को मान्यताओं को छोड़ कर अन्य गच्छों के यतियों की मर्यादा के बिलकुल समीप पहुँच गए तब उनमें से कोई कोई यति क्रियोद्धार के नाम से अपने गुरुओं से जुदा होकर मुँह पर मुँहपत्ति बांध कर जुदा फिरने लगे। इन क्रियोद्धारकों में पहला नाम “धर्मसिंहजी” का है, लौकागच्छ वालों ने इनको कई कारणों से गच्छ बाहर कर दिया था। इस सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहरा पढ़ने योग्य है -

“संवत् सोलह पंच्चसिए, ग्रहमदाबाद मभार।

शिवजी गुरु को छोड़ के, धर्मसिंह हुआ गच्छ बहार ॥”

क्रियोद्धारकों में दूसरे पुरुष यति लवजी थे जो लौकागच्छीय यति बजरंगजी के शिष्य थे। गुरु के मना करने पर भी लवजी मुँह पर मुँहपत्ति बांधकर उनसे अलग हो गये। धर्मसिंह और लवजी सूरत में मिले, दोनों क्रियोद्धारक थे, दोनों मुँहपत्ति बांधते थे, पर छः-कोटि आठ-कोटि के बखेड़े के कारण ये दोनों एक दूसरे से सहमत नहीं हुए, इतना ही नहीं, वे एक दूसरे को जिनाज्ञाभंजक और मिथ्यात्वी तक कहते थे।

तीसरे क्रियोद्धारक का नाम था धर्मदासजी। ये धर्मसिंहजी तथा लवजी में से एक को भी नहीं मानते थे और स्वयं मुँहपत्ति बांधकर क्रियोद्धारक के रूप में फिरते थे। इन क्रियोद्धारकों से समाज और लौकागच्छ को जो नुकसान हुआ है उसके सम्बन्ध में वाड़ीलाल मोतीलाल शाह का निम्नोद्धृत अभिप्राय पढ़ने योग्य है। शाह कहते हैं -



“X X X इतना इतिहास देखने के बाद मैं पढ़ने वालों का ध्यान एक बात पर खींचना चाहता हूँ कि स्थानकवासी व साधुमार्गी जैन-धर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ तब से यह धर्म अस्तित्व में आया और आज तक यह जोर-शोर में था या नहीं ! अरे ! इसके तो कुछ नियम भी नहीं थे, यतियों से अलग हुए और मूर्तिपूजा को छोड़ा कि हूँदिया हुए । X X X ”

“X X X मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार इस तरकीब से जैन-धर्म का बड़ा भारी नुकसान हुआ, इन तीनों के तेरह सौ भेद हुए । X X X ”

ऊपर के विवरण से सिद्ध होता है कि आज का स्थानकवासी-सम्प्रदाय लौकागच्छ का अनुयायी नहीं है, किन्तु लौकागच्छ से बहिष्कृत धर्मदासजी लवजी तथा स्वयं वेशधारी धर्मसिंहजी का अनुयायी है, क्योंकि मुँह पर मुँहपत्ति बाँध कर रहना उपर्युक्त तीन सुधारकों का ही आचार है । लौकाशाह स्वयं असंयत दान का निषेध करते थे, तब उक्त क्रियोद्धारक अभयदान का शास्त्रोक्त मतलब न समझ कर पशुओं, पक्षियों को उनके मालिकों को पैसा देकर छोड़ने को अभयदान कहते थे । आज तक स्थानकवासी-सम्प्रदाय में यह मान्यता चली आ रही है ।

आजकल के कई स्थानकवासी-सम्प्रदायों ने अपनी परम्परा में से शाह लौका का नाम निकाल कर ज्ञानजी यति, अर्थात् “ज्ञानचन्द्रसूरिजी” से अपनी पट्टपरम्परा शुरू की है । खास करके पंजाबी और कोटा की परम्परा के स्थानकवासी साधु लौका का नाम नहीं लेते, परन्तु पहले के लौकागच्छ के यति लौकाशाह से ही अपनी पट्टपरम्परा शुरू करते थे । हमने पहले जिस लौकाशाह के शिलोके को दिया है उसमें केशवजी ऋषि द्वारा लिखी हुई पट्टावली केशवर्षि वर्णित, “लौकागच्छ की पट्टावली (६)”, इस शीर्षक के नीचे दी है ।

श्री देवर्द्धि गरिण के बाद ज्ञानचन्द्रसूरि तक के आचार्यों के नामों की सूची देकर केशवजी लौकाशाह का वृत्तान्त लिखते हैं तथा लौकाशाह के उत्तराधिकारी के रूप में भाणजी ऋषि को बताते हैं और भाणजी के बाद—

भद्र ऋषि  
 लवण ऋषि  
 भोमाजी  
 जगमाल ऋषि  
 सर्वा स्वामी  
 रूपजी  
 जीवाजी  
 कुंवरजी और

श्रीमलजी के नाम लिखकर उनको प्रणाम करते हैं ।

इस लेख से प्रमाणित होता है कि लुंकागच्छ वालों ने अपना सम्बन्ध बृद्धपौषालिक पट्टावली से जोड़ा था, परन्तु उनमें से निकले हुए घर्मदासजी सवजी और घर्मसिंहजी के बाद उनके अनुयायियों में अनेक परम्पराएं और आम्नाय स्थापित हुए । इन आम्नायों के अनुयायी स्थानकवासी साधु अपना सम्बन्ध प्रसिद्ध अनुयोगधर श्री देवद्विगणि क्षमा-श्रमण से जोड़ना चाहते हैं, इसके लिए उन्होंने कल्पित नाम गढ़कर अपना सम्बन्ध जोड़ने का साहस भी किया है, परन्तु इसमें उनको सफलता नहीं मिली, क्योंकि लुंकागच्छ वालों ने तो, ज्ञानचन्द्रसूरि तक के पूर्वाचार्यों को अपने पूर्वज मान कर सम्बन्ध जोड़ा था और वह किसी प्रकार मान्य भी हो सकता था, परन्तु स्थानकवासी समाज के नेता ५२५ वर्ष से अधिक वर्षों को कल्पित नामों से भर कर अपने साथ जोड़ते हैं, यह कभी मान्य नहीं हो सकेगा ।

इस समय हमारे पास स्थानकवासी-सम्प्रदाय की चार पट्टावलियां मौजूद हैं -

- (१) पंजाबी स्थानकवासी साधुओं द्वारा व्यवस्थित की गई पट्टावली ।
- (२) ममोलक ऋषिजी द्वारा संकलित ।
- (३) कोटा के सम्प्रदाय द्वारा मानी हुई पट्टावली और
- (४) श्री स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा व्यवस्थित की हुई पट्टावली ।

ये चारों ही पट्टावलियां आचार्य देवद्विगणि क्षमाश्रमण पर्यन्त की हैं। इनमें गणधर सुघर्मा से लेकर नवमें पट्टधर आचार्य महागिरि तक के नाम सब में समान हैं, बाद के १८ नामों में एक दूसरे से बहुत ही विरोध है, परन्तु इसकी चर्चा में उतर कर समय खोना बेकार है।

पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली में देवद्विगणि के बाद के १८ नाम छोड़ कर आगे के नाम निम्न प्रकार से लिखे हैं -

“४६ हरिसेन, ४७ कुशलदत्त, ४८ जीवनपि, ४९ जयसेन, ५० विजयपि, ५१ देवपि, ५२ सूरसेनजी, ५३ महासेन, ५४ जयराज, ५५ विजयसेन, ५६ मिश्र(त्र)सेन, ५७ विजयसिंह, ५८ शिवराज, ५९ लालजीमल्ल, ६० ज्ञानजी यति।



प्रस्तुत पट्टावली-लेखक जैनशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र से कितना दूर था यह बात उसके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट होती है—

लेखक इन्द्र के मुख से भगवान् महावीर को कहलाता है — “ग्रहो भगवन्त ! पूज्य तुमारी जन्मरास उपरे भस्म ग्रहो बेठो छे, दोय हजार वरसनो सीघस्थ छ ।” भगवान् महावीर की जन्मराशि पर दो हजार वर्ष की स्थिति वाला भस्मग्रह बैठने और उसको “सिंहस्थ” कहने वाले लेखक ने “कल्प-सूत्र” पढ़ा मालूम नहीं होता, क्योंकि कल्पसूत्र देखा होता तो वह भगवन्त की जन्मराशि न कहकर जन्म-नक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थिति का भस्मग्रह बैठने की बात कहता, और “भस्मग्रह को सिंहस्थ” मानना भी ज्योतिष से विरुद्ध है । प्रथम तो भगवान् महावीर के समय में राशियों का प्रचलन ही नहीं हुआ था, दूसरा महावीर की जन्मराशि “कन्या” है और जन्म नक्षत्र “उत्तरा-फाल्गुनी ।” इस परिस्थिति में उक्त कथन करना अज्ञानसूचक है ।

अब हम पट्टावलीकार की लिखी हुई देवद्विगण क्षमा-श्रमण तक की पट्टपरम्परा उद्धृत करके यह दिखायेंगे कि मुद्रित लौकागच्छ की सभी पट्टावलियों में देवद्विगण की परम्परा नन्दी-सूत्र के अनुसार देने की चेष्टा की गई है, वह परम्परा वास्तव में देवद्वि की गुरु-परम्परा नहीं है, किन्तु अनुयोगधर वाचकों की परम्परा है । तब प्रस्तुत पट्टावली में लेखक ने देवद्विगण क्षमा-श्रमण की गुरु-परम्परा समझकर दी है, जिससे कई स्थानों पर भूलें दृष्टिगोचर होती हैं ।

### प्रस्तुत पट्टावली की देवद्विगण-परम्परा :

(१) सुधर्मा	(२) जम्बु	(३) प्रभव
(४) शय्यम्भव	(५) यशोभद्र	(६) संभूतविजय
(७) भद्रबाहु	(८) स्थूलभद्र	(९) महागिरि
(१०) सुहस्ती	(११) सुप्रतिबुद्ध	(१२) इन्द्रदिन्न
(१३) धार्यदिन्न	(१४) वज्रस्वामी	(१५) वज्रसेन

# स्थानकवासियों की हस्तलिखित पट्टावली १.

स्थानकवासी पट्टावलियों के सम्बन्ध में ऊपर हमने जो ऊहापोह किया है, वे सभी मुद्रित पट्टावलियां हैं। अब हम एक हस्तलिखित पट्टावली के सम्बन्ध में विचार करेंगे। हमारे पास स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक ११ पत्र की पट्टावली है जिसका प्रारंभ निम्नलिखित शब्दों से होता है—

“अथः श्रो गुरुभ्यो नमो नमः” ॐ ह्री श्री मोतोचन्दजी, श्री बर्दो-चन्दजी श्री नमो नमः।” “अथः श्रो पटावली लिखंते” “वली पाट परं-पराये चाल्यो आवे छे ते कहे छे—”

“श्री जैसलमेर ना भंडार मांहे थी पुस्तक लौंके महेताजीअ्रे कडावी जोया छे, तिणमांहे ऐसी वीगत निकली छे ॥”

उपर्युक्त प्रारम्भ वाली पट्टावली किसी स्थानकवासी पूज्य ने सं० १९३६ के वर्ष में गांव सीतामऊ में लिखी हुई है, ऐसा अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है। “पटावली” यह अशुद्ध नाम स्वयं बताता है कि इसका लेखक संस्कृत का ज्ञानकार नहीं था, उसने इस पट्टावली में सुनी-सुनाई बातें लिखी हैं और जैसलमेर के भण्डार में से पुस्तकें लौंका महेता ने निकालकर देखने की बात तो कोरी डींग है, क्योंकि लौंका महेता ने अहम-दाबाद और लीम्बड़ी के बीच के गांवों के अतिरिक्त कोई गांव देखे ही नहीं थे। लौंका के परलोकवास के बाद भाणजी आदि ने गुजरात और अन्य प्रदेशों में फिरकर लौंका के मत का प्रचार किया था पर उनमें से कोई जैसलमेर गया हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

(१६) आर्यं रोहण	(१७) पुष्यगिरि	(१८) युगमन्त्र
(१६) धरणीधर स्वामी	(२०) शिवभूति	(२१) आर्यभद्र
(२२) आर्यनक्षत्र	(२३) आर्यरक्ष	(२४) नाग
(२५) जेहलविसन स्वामी	(२६) संदिदत्र	(२७) देवडिढ

पट्टावली लेखक यह परम्परा नन्दीसूत्र के आधार से लिखी बताते हैं जो गलत है। इस परम्परा के नामों में आर्य-महागिरि और आर्य-सुहस्ती को एक पट्ट पर माना है, तब आर्य-सुहस्ती के बाद के नामों में से कोई भी नाम नन्दी में नहीं है, किन्तु पिछले सभी नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली के हैं, इसमें दिया हुआ ११ वां सुप्रतिबुद्ध का नाम अकेला नहीं किन्तु स्थविरावली में “सुस्थित सुप्रतिबुद्ध” ऐसे संयुक्त दो नाम हैं। आर्य-दिन्न के बाद इसमें वज्रस्वामी का नाम लिखा है जो गलत है। आर्यदिन्न के बाद पट्टावली में आर्यं सिंहगिरि का नाम है, बाद में उनके पट्टधर वज्र-स्वामी है। वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन के बाद इसमें आर्य-रोहण का नाम लिखा है जो गलत है। आर्यरोहण आर्यसुहस्ती के शिष्य थे, न कि वज्रसेन के, वज्रसेन के शिष्य का नाम ‘आर्य-रथ’ था। पुष्यगिरि के बाद इसमें १८वें पट्टधर का नाम “युगमन्त्र” लिखा है जो अशुद्ध है। पुष्य-गिरि के उत्तराधिकारी का नाम आर्यं “फल्गुमित्र” था, फल्गुमित्र के बाद के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली में आर्यं “धनगिरि” है जिसको विगाड़कर प्रस्तुत पट्टावली में “धरणीधर-स्वामी” लिखा है। आर्य-नक्षत्र के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली में “आर्य-रक्ष” है, जिसके स्थान पर प्रस्तुत पट्टावलीकार ने “क्षत्र” ऐसा गलत नाम लिखा है। आर्यनाग के बाद “कल्पस्थविरावली” में “जेहिल” और इसके बाद “विष्णु” का नम्बर आता है, तब प्रस्तुत पट्टावली में उक्त दोनों नामों को एक ही नम्बर के नीचे रख लिया है। विष्णु के बाद कल्पस्थविरावली में “आर्यकालक” का नम्बर है, तब प्रस्तुत पट्टावली में इसके स्थान पर “सडिल” यह नाम है जो शाण्डिल्य का उपभ्रंश है। शाण्डिल्य देवद्विगण के पूर्ववर्ती आचार्य थे, जबकि पट्टावली लेखक विष्णु के बाद के अनेक आचार्यों के नाम छोड़कर देवद्विगण के समीपवर्ती शाण्डिल्य का नाम खींच लाया है, इसके बाद

देवद्विगणि क्षमा-श्रमण का नाम लिखकर उन्हें २७वां पट्टधर मान लिया है। वास्तव में देवद्विगणि क्षमा-श्रमण की गुरु-परम्परा गिनने से उनका नम्बर ३४वां आता है, जबकि देवद्विगणि क्षमा-श्रमण २७ वें पुरुष माने गये हैं, सो वाचक-परम्परा के क्रम से, न कि गुरु-शिष्य-परम्परा-क्रम से। इस भेद को न समझने के कारण से ही प्रस्तुत पट्टावलीकार ने कल्पस्थविरावली के क्रम से देवद्विगणि को २७वां पुरुष मानने की भूल की है।

देवद्विगणि तक के नाम लिखकर पट्टावली लेखक कहता है - ये २७ पाट नन्दीसूत्र में मिलते हैं, 'ये २७ पट्टधर जिनाणा के अनुसार चलते थे, तब इनके बाद में पाट परम्परा द्रव्यलिंगियों की चली, फिर कालान्तर में आत्मार्थी साधु शुद्धमार्ग को चलायेंगे उनका अधिकार आगे कहते हैं।'

लेखक के कहने का तात्पर्य यह है कि देवद्विगणि के बाद जो साधु परम्परा चली वह मात्र वेषधारियों की परम्परा थी। भाव साधुओं की नहीं। यहां लेखक को पूछा जाय कि भावसाधु देवद्विगणि के बाद नहीं रहे और सं० १७०६ से भगवान् के दयाधर्म का प्रचार स्थानकवासी साधुओं ने किया, तब देवद्विगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के बाद और स्थानकवासी साधुओं के प्रकट होने के पहले के १२०० वर्षों में भगवान् का दयाधर्म नहीं रहा था ? क्योंकि जैन शासन के चलाने वाले तो निग्रन्थ भावसाधु ही होते थे। तुम्हारी मान्यता के अनुसार देवद्वि के बाद की श्रमणपरम्परा केवल लिंगधारियों की थी तब तो सं० १७०६ के पहले के १२०० वर्षों में जैन दयाधर्म विच्छिन्न हो गया था, परन्तु भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने अपना धर्मशासन २१ हजार वर्षों तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहने की बात कही है, अब भगवतीसूत्र का कथन सत्य माना जाय या प्रस्तुत स्थानकवासी पट्टावली के लेखक पूज्यजी का कथन ? समझदारों के लिए तो यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है, कि वर्तमान अवसरिणी के चतुर्थ आरे के अन्तिम भाग में भगवान् महावीर ने श्रमणसंघ की स्थापना करने के साथ धर्म की जो स्थापना की है वह आज तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही है और पंचम आरे के अन्त तक चलती रहेगी, चाहे स्थानकवासी-सम्प्रदाय

बढ़ें घटे या विच्छिन्न हो जाय, जैनधर्म के अस्तित्व में उसका कोई असर नहीं पड़ेगा ।

यद्यपि प्रस्तुत स्थानकवासी पट्टावली ११ पानों में पूरी की है, फिर भी देवद्विगण क्षमाश्रमण की परम्परा के अतिरिक्त इसमें कोई भी व्यवस्थित परम्परा या पट्टकम नहीं दिया । आर्यकालक की कथा, पंचकाली, सप्तकाली, बारहकाली सम्बन्धी कल्पित कहानियां और दिगम्बर तथा निह्लवों के उटपरांग वर्णनों से इसका कलेवर बढ़ाया है, हमको इन बातों की चर्चा में उतरने की कोई आवश्यकता नहीं ।

“लौकागच्छ तथा “स्थानकवासी सम्प्रदायों” से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातों की चर्चा करके इस लेख को पूरा कर देंगे ।

पट्टावली के आठवें पत्र के दूसरे पृष्ठ में प्रस्तुत पट्टावलीकार लिखते हैं — श्री महावीर स्वामी के बाद दो हजार तेईस के वर्ष में जिनमत का सच्चा श्रद्धालु और भगवन्त महावीर स्वामी का दयामय धर्म मानने वाला लौकागच्छ हुआ ? ।”

लौकागच्छ के यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि अपने कवित्तों में लौकाशाह के धर्मप्रचार का सं० १५०८ में प्रारम्भ हुआ बताते हैं और १५३२ में तथा ३३ में भाणजीऋषि की दीक्षा और लौकाशाह का देवलोक गमन लिखते हैं, तब स्थानकवासी पट्टावली लेखक वीरनिर्वाण २०२३ में अर्थात् विक्रम सं० १५३३ में लौकागच्छ का प्रकट होना बताते हैं, जिस समय कि लौकाशाह को स्वर्गवासी हुए २० वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था । पट्टावली लेखक कितना असावधान और अनभिज्ञ है यह बताने के लिए हम ने समयनिर्देश पर ऊहापोह किया है ।

यहां पर पट्टावलीकार ने लौकागच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कल्पित कथा दी है जिसका सार यह है —

१. “श्री महावीर पछे २०२३ वरखेजिनमति साचीसरदाका घणी भगवन्त महावीर स्वामी नो धर्म दया में चाल्यो लौकागच्छ हुवा ।” (पट्टावली का मूल पाठ)



“पुस्तक भंडार में से पुस्तक निकाले तो कुछ पाने दीमक खा गया था, यह देख यति ने उनके पास गए हुए मेहेता लुंका को कहा — मेहेताजी । एक जैन मार्ग का काम है, मेहेता ने कहा — कहिये क्या काम है ? यति ने कहा — सिद्धान्त के पाने दीमक खा गया है, उन्हें लिख दो तो उपकार होगा, लौंका ने उनका वचन मान लिया । यति ने “दशवैकालिक” को प्रत लौंका को दी । लौंका ने मन में सोचा-वीतराग भाषित दयाधर्म का मार्ग दशवैकालिक में लिखे अनुसार है, आजकाल के वेषधारी इस आचार को छोड़ हिंसा की प्ररूपणा करते हैं, वे स्वयं धर्म से दूर हैं इसलिए लोगों को शुद्धधर्म-मार्ग नहीं बताते, परन्तु इस समय इनको कुछ कहूंगा तो यानेंगे नहीं, इसलिए किसी भी प्रकार से पहले शास्त्र हस्तगत कर लूं तो भविष्य में उपकार होगा, यह सोचकर मेहेता लुंका ने दशवैकालिक की दो प्रतियां लिखी, एक अपने पास रखी, एक यति को दी । इस प्रकार सब शास्त्रों की दो-दो प्रतियां उतारी और एक-एक प्रति अपने पास रखकर खासा शास्त्र-संग्रह कर दिया । मेहेता अपने घर पर सूत्र की प्ररूपणा करने लगा बहुत से लोग उनके पास सुनने जाते और सुनकर दयाधर्म की प्ररूपणा करते ।

उस समय हटवाणिया के त्रिणक् शाह नागजी १, मोतीचन्दजी २, दुलीचन्दजी ३, शम्भुजी ४, और शम्भुजी के बेटा की बेटा मोहीबाई और मोहीबाई की माता इन सब ने मिलकर संघ निकाला । घाड़ो, गोड़े, ऊंट, बैल, इत्यादि साज सामान के साथ निकले परन्तु मार्ग में जलवृष्टि हो गई, जहां लौंका मेहेता अपने मत का उपदेश करता था वहां यात्रिक आए और लौंका की वाणी सुनने लगे । लौंका मेहेता भी बड़ी तत्परता से दयाधर्म का प्रतिपादन करते थे । सारा यात्री संघ लुंका मेहेता वाले गांव में आया और वहां पड़ाव डालकर मेहेता की वाणी सुनने लगा, उस समय संघ के गुरु वेशधारी साधु ने सोचा — अगर संघ के लोग सिद्धान्त शैली सुनें तो आगे चलेंगे नहीं और हमारी बात भी मानेंगे नहीं, यह विचार कर वेशधारी साधु संघनायक के पास आया और कहने लगा — संघ के लोग खर्च और पानी से दुःखी हैं, तब संघनायक ने कहा — मार्ग में तो त्रसजीव और

हरियालो के अंकुर निकल जाने से अग्रतना बहुत दीख रही है वास्ते अभी ठहरो ! इस पर द्रव्यलिंगी गुरु बोले - शाहजी धर्म के निमित्त होने वाली हिंसा को हिंसा नहीं माना, यह सुनकर संघवी ने सोचा कि लौंका महेना के पास जो सुना था कि देशधारी साधु अनाचारी हैं, छः काय की दया से हीन हैं, वह बात आज प्रत्यक्ष दीख रही है, द्रव्यलिंगी यति वापस लौट गया और संघ के साथ सिद्धान्त सुनता वहीं ठहरा, सुनते-सुनते उनमें से ४५ जनों को वैराग्य उत्पन्न हुआ और संयम लिया, उनके नाम - सर्वोजी, भाणोजी, नयनोजी, जगमोजी आदि थे, इस प्रकार ४५ साधु जिनमार्ग के दयाधर्म की प्ररूपणा करने लगे और अनेक जोड़ों ने दयाधर्म का स्वीकार किया, उस समय लौंकाशाह ने पूछा तुम कैसे साधु कहलाते हो ? साधु बोले - महेताजी हमने तीर्थ-ङ्कर का धर्ममार्ग आपसे पाया है, इसलिए हम "लौंका साधु" कहलाते हैं और हमारा समुदाय "लौंकागच्छ" कहलाता है ।

कल्पित कथा के प्रारंभ में "दशवैकालिक" के पाने दीमक रवाने की बात कही गई है । और "दशवैकालिक" की प्रति लौंका को देने का कहा है अब विचारणीय बात यह है कि पुस्तक के पाने दीमक द्वारा नष्ट हो गये तो उसी "दशवैकालिक" की प्रति के ऊपर से लौंका ने दो प्रतियां कैसे लिखी ? क्योंकि लौंका के पास तो पुस्तक भंडार था नहीं और लौंका को लिखने के लिए पुस्तक देने वाले यतिजी ने उसे "दशवैकालिक" की अखंडित प्रति देने का का सूचन तक नहीं है, केवल "दशवैकालिक" ही नहीं यतिजी के पास से दूसरे भी सूत्र लिखने के लिए लौंका ले जाता था और उनकी एक-एक नकल अपने लिए लिखता था । यदि भण्डार के तमाम सूत्रों में दीमक ने नुकसान किया था और यतिजी भंडार के पुस्तकों को लिखवाते थे तो साथ में अखंडित सूत्रों की प्रतियां देने की आवश्यकता थी, परन्तु इस कहानी से ऐसी बात प्रमाणित नहीं होती अतः "लौंकाशाह जिनमार्ग का काम समझकर सूत्रों की प्रतियां लिखते थे, यह कथन सत्यता से दूर है ।" सत्य बात तो यह है कि लौंकाशाह लेखक का धन्दा करता था । मेहनताना देकर साधु उससे पुस्तक लिखवाते थे,

उनमें से लौका ने लिखवाने वाले की आज्ञा के बिना अपने लिए पुस्तक की एक-एक प्रति लिख ली हो तो असम्भव नहीं है, परन्तु एक बात विचारणीय यह है कि लौका के समय में जैनसूत्रों पर टिब्बे नहीं बने थे। सूत्रों पर टिब्बे सर्वप्रथम पार्श्वचन्द्र उपाध्याय ने लिखे थे और पार्श्वचन्द्र का समय शाह लौका के बाद का है। लौका “संस्कृत” या “प्राकृत” भाषा का जानकार भी नहीं था फिर उसने सूत्रों की नकल करते-करते मूल सूत्रों का अंगर उसकी पंचांगी का तात्पर्य कैसे समझा कि सूत्रों में साधु का आचार ऐसा है और साधु उसके अनुसार नहीं चलते हैं। सच बात तो यह है कि वह साधुओं के व्याख्यान सुना करता था, इस कारण से वह साधुओं के आचारों से परिचित था। वृद्ध पौषषशालिक आचार्य श्री ज्ञानचन्द्रसूरि का पुस्तक-लेखन का कार्य लौकाशाह कर रहा था और इस व्यवसाय को लेकर ही ज्ञानचन्द्रसूरि ने लौका को फिटकारा और लौका ने साधुओं के पास न जाने की प्रतिज्ञा की थी और उनके आचार-विचार के सम्बन्ध में टोका-टिप्पणियां करने लगा था।

लौकामत की कल्पित कहानी में दी गई, हटवाणियां गांव के संघ की कहानी भी सरासर झूठी है। क्योंकि पहले तो “हटवाणिया” नामक कोई गांव ही मारवाड़ अथवा गुजरात में नहीं है, दूसरा चातुर्मास्य आगे लेकर संघ निकालने की पद्धति जनों में नहीं है, फिर लौकाशाह के निकट पहुँचने के लगभग जलवृष्टि होना और वनस्पाति के अंकुरों के उत्पन्न होने आदि की बातें केवल कल्पना-कल्पित हैं। विद्वान् साधुओं की विद्वत्तामयी धर्मदेशना सुनकर हजारों में से शायद ही कोई दीक्षा के लिये तैयार होता है। तब लौकाशाह के उपदेश से केवल यांत्रिक-संघ में से ४५ जनों के दीक्षा लेने की बात सफेद झूठ नहीं तो और क्या हो सकती है। लौकाशाह के थोड़े ही वर्षों के बाद होने वाले लौका भानुचन्द्रजी ऋषि और लौका केशवजी ऋषि अपनी रचनाओं में लौकाशाह के अन्तिम समय में केवल एक भागजी की दीक्षा होने की बात लिखते हैं। तब बीसवीं शती का स्थानकवासी पट्टावलीकार ४५ जनों के दीक्षा की बात कहता है और लौकाशाह के द्वारा पुछवाता है कि “तुम कैसे साधु कहलाते हो ?” साधु

कहते हैं कि—“हम लौकागच्छ के साधु कहलाते हैं” यह क्या मामला है ? पट्टावलीकार के लेखानुसार लौकाशाह के स्वर्गवास के बाद २१वें वर्ष में लौकागच्छ की उत्पत्ति होती है और ४५ साधु लौकाशाह के सामके कहते हैं—“हम लौकाशाह के साधु कहलाते हैं” क्या यह अन्धेरगर्दी नहीं है ? लौकागच्छ को कहलाने वाली सभी स्थानकवासी पट्टावलियां इसी प्रकार के अज्ञान से भरी हुई हैं । न किसी में अपनी परम्परा का वास्तविक क्रम है न व्यवस्था, जिसको जो ठीक लगा वही लिख दिया, न किसी ने कालक्रम से सम्बन्ध रक्खा, न ऐतिहासिक घटनाओं की श्रृंखला से ।

**पट्टावली-लेखक आगे लिखता है -**

उसके बाद रूपजी शाह पाटन का निवासी संयमी होकर निकला, वह “रूपजी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह लौकागच्छ का पहला पट्टघर हुआ ।”

उसके बाद सूरत निवासी शाह जीवा ने रूपजी ऋषि के पास दीक्षा ली और जीवजी ऋषि बने । व्यवहार से हम इनको शुद्ध साधु जानते हैं । बाद में स्थानक-दोष सेवन करने लगे । आहार की गवेषणा से मुक्त हुए, वस्त्र पात्र की मर्यादा लोपी, तब सं० १७०६ में सूरत निवासी बहोरा वीरजी का दोहिता शा० लवजी जो पढ़ा-लिखा था, उसको वैराग्य उत्पन्न हुआ और संयम लेने के लिए अपने नाना वीरजी से आज्ञा मांगी । वीरजी ने कहा - लौकागच्छ में दीक्षा ले तो आज्ञा दूं, लवजी ने सोचा - अभी प्रसंग ऐसा ही है, एक बार दीक्षा ले हो लूं यह विचार कर लवजी ने लौकागच्छ के यति बजरंगजी के पास दीक्षा ली । उनके पास सूत्र सिद्धान्त पढ़ा । कालान्तर में अपने गुरु से पूछा - सिद्धान्त में साधु का आचार जो लिखा है उस प्रकार आजकल क्यों नहीं पाला जाता ?, गुरु ने कहा - आजकल पांचवां आरा है । इस समय आगमोक्त आचार किस प्रकार पल सकता है ?, शिष्य लवजी ने कहा - स्वामिन् ! भगवन्त का मार्ग २१ हजार वर्ष तक चलने वाला है, सो लौकागच्छ में से निकलो, आप मेरे गुरु और मैं आपका शिष्य । बजरंगजी ने कहा - मैं तो गच्छ से

निकल नहीं सकता, तब लवजी ने कहा — मैं तो गच्छ का त्याग कर चला जाता हूँ, यह कह कर ऋषि लवजी, ऋषि भाणोजी और ऋषि सुखजी तीनों वहाँ से निकल गये और तीनों ने फिर से दीक्षा ली। गाँव नगरों में विचरते हुए जैनधर्म की प्ररूपणा की, अनेक लोगों को धर्म समझाया, तब लोगों ने उनका “दुण्डिया” ऐसा नाम दिया।

अहमदाबाद के कालुपुर के रहने वाले शाह सोमजी ने लवजी के पास दीक्षा ली। २३ वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर बड़ी तपस्या की, उनके अनेक साधु-साध्वियों का परिवार बढ़ा जिनके नाम हरिदासजी १, ऋषि प्रेमजी २, ऋषि कानाजी ३, ऋषि गिरधरजी ४, लवजी प्रमुख वजरंगजी के गच्छ से निकले थे जिनके अनुयायियों का नाम अमीपालजी १, ऋषि श्रीपालजी २, ऋ० धर्मपालजी ३, ऋ० हरजी ४, ऋ० जीवाजी ५, ऋ० कर्मणजी ६, ऋ० छोटा हरजी ७, और ऋ० केशवजी ८। इन महापुरुषों ने अपना गच्छ छोड़ कर दीक्षा ली और जैनधर्म को दीपाया। बहुत टोले हुए, समर्थजी पूज्यश्री धर्मदासजी, श्री गोदाजी, फिर होते ही जाते हैं। इनमें कोई कहता है — मैं उत्कृष्ट हूँ, तब दूसरा कहता है — मैं उत्कृष्ट हूँ।

उपर्युक्त शुद्ध साधुओं का वृत्तान्त है, पीछे तो केवली स्वीकारे, सो सही। यह परम्परा की पट्टावली लिखी है।

पट्टावली-लेखक ने रूपजी ऋषि को लौकागच्छ का प्रथम पट्टधर लिखा है, परन्तु लौकागच्छीय ऋषि भानुचन्द्रजी तथा ऋषि केशवजी ने लौकागच्छ का और लौकाशाह का उत्तराधिकारी भाणजी को बताया है।

उपर्युक्त दोनों लेखकों का सत्ता-समय लौकाशाह से बहुत दूर नहीं था; इससे इनका कथन ठीक प्रतीत होता है। पट्टावलीकार रूपजी ऋषि को लौकागच्छ का प्रथम पट्टधर कहते हैं वह प्रामाणिक नहीं है।

पट्टावलीकार रूपजी जीवाजी को महापुरुष और शुद्ध साधु कहकर उनको उसी जीवन में स्थानक-दोष, आहार-दोष, वस्त्रापात्र आदि मर्यादा

का लोप आदि दोषों के कारण शिथिलाचारी बताता है. और १७०६ में शा० लवजी की दीक्षा की बात कहता है। लवजी दीक्षा लेने के बाद अपने गुरु बजरंगजी को लौकागच्छ से निकालने का आग्रह करते हैं, और इनके इन्कार करने पर भी ऋ० लवजी, ऋ० भाणजी और ऋ० सुखंजी के साथ लौकागच्छ को छोड़कर निकल जाते हैं, और तीनों फिर दीक्षा लेते हैं और लोग उनको “दुण्डिया” यह नाम देते हैं। पट्टावलीकार ने उक्त त्रिपुटी को दीक्षा तो लिवाली, पर दीक्षा-दाता गुरु कौन थे ? यह नहीं लिखा। अपने हाथ से कल्पित वेश पहिन लेना यह दीक्षा नहीं स्वांग होता है। दीक्षा तो दीक्षाधारी अधिकारी-गुरु से ही प्राप्त होती है, न कि वेश-मात्र धारण करने से। लौकागच्छ के साधु स्वयं गृहस्थ-गुरु के चेले थे तो उनमें से निकलने वाले लवजी आदि नया वेश धारण करने से नये दीक्षित नहीं बन सकते।

पट्टावली के अन्त में लेखक ऋषि लवजी के मुंह से कहलाता है — “अरे भाई ! पांचवां आरा है, ऐसी कठिनाई हम से नहीं पलेगी, ऐसा करने से हमारा टोला बिखर जाय।

पट्टावलीकार ने पूर्व के पत्र में तो लवजी को महात्यागी और लौकागच्छ का त्याग करके फिर दीक्षा लेने वाला बताया और आगे जाकर उन्हीं लवजी के मुंह से पंचम आरे के नाम से शिथिलाचार को निभाने की बात कहलाता है। यह क्या पट्टावली-लेखक का ढंग है ! एक व्यक्ति को खूब ऊंचा चढ़ाकर दूसरे ही क्षण में उसे नीचे गिराना यह समझदार लेखक का काम नहीं है।



## दुराटक - मत की पट्टावली १.

श्री आत्मारामजी महाराज के हाथ से लिखी हुई स्थानकवासियों की पट्टावली सम्यक्त्व श्लयोद्वार के बाघार से नीचे दी जाती है - पूज्य लेखक का कथन है कि "यह पट्टावली हमने अमरसिंहजी के परदादा श्री मुल्क-चन्दजी के हाथ से लिखी हुई, ढुंढकपट्टावली के ऊपर से ली है।" हमने सभी स्थानकवासियों की अन्यान्य पट्टावलियों की अपेक्षा से इसमें कुछ वास्तविकता देखकर यहां देना ठीक समझा है। पट्टावलीकार लिखते हैं कि "अहमदाबाद में रहने वाला लौंका नामक लेखक ज्ञानजी यति के उपाश्रय में उनके पुस्तक लिखकर अपनी आजीविका चलाता था, एक पुस्तक में से सात पांने उसने यों ही छोड़ दिए। यतिजी को मालूम हुआ कि लौंका ने जान बुझकर बेईमानी से पांने छोड़ दिये हैं, उसे फटकार कर उपाश्रय में से निकाल दिया और दूसरे पुस्तक लिखाने वालों को भी सूचित कर दिया कि इस लुच्चे लेखक लौंका के पास कोई पुस्तक न लिखावे।"

उक्त प्रकार से लौंका की आजीविका टूट जाने से वह जैन साधुओं का द्वेषी बन गया, पर अहमदाबाद में उसका कुछ नहीं चला, तब वह अहमदाबाद से ४० कोस की दूरी पर आये हुए लीम्बडी गांव गया, वहां उसका मित्र लखमशो नामक राज्य का कार्यभारी रहता था। लौंका ने लखमशो से कहा - "भगवान् का मार्ग लुप्त हो गया है, लोग उल्टे मार्ग चलते हैं, मैंने अहमदाबाद में लोगों को सच्चा उपदेश किया, पर उसका परिणाम उल्टा आया, मैं तुम्हारे पास इसलिए आया हूं कि मैं सच्चे दयाधर्म की प्ररूपणा करूं और तुम मेरे सहायक बनो।" लखमशो ने लौंका को आश्वासन देते हुए कहा - खुशी से अपने राज्य में तुम दयाधर्म का प्रचार करो, मैं तुम्हारे खान-मान आदि की व्यवस्था कर दूंगा।

सं० १५०८ में लौंका ने जैन साधुओं के विरोध में मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का खण्डन करना शुरू किया, लगभग २५ वर्ष तक दयाधर्म-सम्बन्धी चौपाइयां सुना-सुनाकर लोगों को मन्दिरों का विरोधी बनाता रहा, फिर भी उसका उत्तराधिकारी बनकर उसका कार्य सम्हालने वाला कोई नहीं मिला ।

सं० १५३४ में भाणा नामक एक बनिया उसे मिला, अशुभ कर्म के उदय से वह लौंका का अनन्य भक्त बना । इतना ही नहीं, वह लौंका के कहने के अनुसार बिना गुरु के ही साधु का वेश पहन कर अज्ञ लोगों को लौंका का अनुयायी बनाने लगा । लौंका ने ३१ सूत्र मान्य रखे थे । व्यवहार सूत्रों को वह मानता नहीं था और माने हुए सूत्रों में भी जहां जिनप्रतिमा का अधिकार आता वहां मनःकल्पित अर्थ लगाकर उनको समझा देता ।

सं० १५६८ में भाणजी ऋषि का शिष्य रूपजी हुआ ।

सं० १५७८ में माघ सुदि ५ के दिन रूपजी का शिष्य जीवाजी हुआ ।

सं० १५८७ के चैत्र वदि १४ के दिन जीवाजी का शिष्य वृद्धवर-सिंहजी नामक हुआ ।

सं० १६०६ में उनका शिष्य वरसिंहजी हुआ ।

सं० १६४६ में वरसिंहजी का शिष्य यशवन्त नामक हुआ और यशवन्त के पीछे बजरंगजी नामक साधु हुआ, जो बाद में लौंकागच्छ का आचार्य बना था ।

उस समय सूरत के रहने वाले बोहरा वीरजी की पुत्री फूलाबाई के दत्तापुत्र लवजी ने लौंकाचार्यजी के पास दीक्षा ली और दीक्षा लेने के बाद उसने अपने गुरु से कहा - दशवैकालिक सूत्र में जो साधु का आचार बताया है, उसके अनुसार आप नहीं चलते हैं । लवजी की इस प्रकार की बातों से बजरंगजी के साथ उनका झगड़ा हो गया और वह लौंकामत और अपने गुरु का सदा के लिए त्याग कर थोमरा ऋषि आदि कतिपय लौंका साधुओं को साथ में लेकर स्वयं दीक्षा ली और मुख पर मुँहपत्ति बांधी ।



लवजी के सोमजी और कानजी नामक दो शिष्य हुए ।

कानजी के पास एक गुजराती छीपा दीक्षा लेने आया था, परन्तु कानजी के आचरण अच्छे न जानकर उनका शिष्य न होकर वह स्वयं साधु बन गया और मुंहपर मुहपत्ति बांध ली । घर्मदास को एक जगह उतरने को मकान नहीं मिला, तब वह एक दुण्डे (फुटे टूटे खण्डहर) में उतरा तब लोगों ने उसका नाम “दुण्डक” दिया ।

लोकामति कुंवरजी के घर्मशी; श्रीपाल और अभीपाल ये तीन शिष्य थे, इन्होंने भी अपने गुरु को छोड़कर स्वयं दीक्षा ली, इनमें से आठ कोटि प्रत्याख्यान का पन्थ चलाया, जो आजकल गुजरात में प्रचलित है ।

घर्मदास के घनजी नामक शिष्य हुए ।

घनजी के भूदरजी नामक शिष्य हुए और भूदरजी के रघुनाथजी जयमलजी और गुमानजी नामक तीन शिष्य हुए जिनका परिवार मारवाड़ गुजरात और मालवा में विचरता है ।

रघुनाथजी के शिष्य भीक्ष्मजी ने १३ पंथ चलाया ।



# भीखमजी के तेरापंथ सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा

तेरापन्थी सम्प्रदाय स्थानकवासी साधु रघुनाथमलजी के शिष्य भिक्खूजी से चला। तेरापन्थी भिक्खूजी को श्री भिक्षुगणी के नाम से व्यवहृत करते हैं। आज तक इस सम्प्रदाय को दो सौ वर्ष हुए और इसके उपदेशक आचार्य ६ हुए। नवों आचार्यों की नामावलि क्रमशः इस प्रकार है -

- (१) आचार्य श्री भिक्षुगणी
- (२) " " भारमल गणी
- (३) " " ऋषिराय गणी
- (४) " " जयगणी - श्री मज्जयाचार्य
- (५) " " मधवागणी
- (६) " " मारणकगणी
- (७) " " डालगणी
- (८) " " कालूगणी
- (९) " " तुलसीगणी

ऊपर की तेरापन्थी आचार्यों की नामावलि तेरापन्थी मुनि श्री नग-राजजी लिखित "तेरापन्थ दिग्दर्शन" नामक पुस्तिका से उद्धृत की है। पुस्तिका में लेखक ने अतिशयोक्तियाँ लिखने में मर्यादा का उल्लंघन किया

“संस्कृत भाषा के ग्रन्थासी ऐसे भी साधु संघ में हैं, जिन्होंने एक-एक दिन में पांच-पांच सौ व सहस्र-सहस्र श्लोकों की रचना की है।”

ठीक तो है जिस संघ में प्रतिदिन पांच-पांच सौ और सहस्र-सहस्र श्लोक बनाने वाले साधु हुए हैं उस संघ में संस्कृत-साहित्य के तो भण्डार भी भर गए होंगे, परन्तु दुःख इतना ही है कि ऐसे संघ की तरफ से एक भी संस्कृत ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ देखने में नहीं आया।

लवजी के शिष्य सोमजी हुए ।  
हरिदासजी के शिष्य वृन्दावनजी हुए ।  
वृन्दावनजी के भवानीदासजी हुए ।  
भवानीदासजी के शिष्य मल्लकचन्दजी हुए ।  
मल्लकचन्दजी के शिष्य महासिंहजी हुए ।  
महासिंहजी के शिष्य खुशालरामजी हुए ।  
खुशालरामजी के शिष्य छजमलजी हुए ।  
रामलालजी के शिष्य अमरसिंहजी हुए ।

अमरसिंहजी का शिष्य-परिवार आजकल पंजाब में मुख बांध कर विचरता है ।

लवजी के शिष्यों का परिवार मालवा और गुजरात में विचरता है ।

“समकित्तसार” के कर्ता जेठमलजी धर्मदासजी के शिष्यों में से थे और उनके आचरण ठीक न होने के कारण उनके चेले देवीचन्द और मोतीचन्द दोनों जन उनको छोड़ कर जोमराजजी के शिष्य हजारीमलजी के पास दिल्ली में आकर रहे थे ।

अगर हमने जो लौकामत की और स्थानकवासी लवजी की परम्परा लिखी है वह पूर्वोक्त अमोलकचन्दजी के हाथ से लिखी हुई दुण्डकमत की पट्टावली के ऊप से लिखी है, इस विषय में जिस किसी को शंका हो, वह हस्तलिखित मूल प्रति को देख सकता है ।

लौकाशाह, लौकागच्छ और स्थानकवासी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों ने लिखा है। वाडीलाल मोतीलाल शाह ने अपनी "ऐतिहासिक नोंध" में, संत बालजी ने "धर्मप्राण लौकाशाह" में, श्री मणिलालजी ने "प्रभुवीर पट्टावली" में और अन्यान्य लेखकों ने इस विषय के लेखों में जो कुछ लिखा है, वह एक दूसरे से मेल नहीं खाता, इसका कारण यही है कि सभी लेखकों ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पनाओं द्वारा कल्पित बातों से अपने लेखों को विभूषित किया है। इन सब में शाह वाडीलाल मोतीलाल सब के अग्रगामी हैं। इनकी असत्य कल्पनाएं सब से बड़ी-चढ़ी हैं, इस विषय का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। लौकागच्छ के आचार्य श्री मेघजी ऋषि अपने २५ साधुओं के साथ लौकामत को छोड़ कर तपागच्छ के आचार्य श्री विजयहीरसूरजी के शिष्य बने थे। इस घटना को बढ़ा-चढ़ा कर शाह वाडीलाल लौकागच्छ के ५०० साधु तपागच्छ में जाने की बात कहते हैं। अतिशयोक्ति की भी कोई हद होती है, परन्तु शाह ने इस बात का कोई ह्याल नहीं किया। इसी प्रकार शाह वाडीलाल ने अपनी पुस्तक "ऐतिहासिक नोंध" में अहमदाबाद में मूर्तिपूजक और स्थानकवासी साधुओं के बीच शास्त्रार्थ का जजमेन्ट लिख कर अपनी असत्यप्रियता का परिचय दिया है, शाह लिखते हैं -

"आखिर सं० १८७८ में दोनों ओर का मुकद्दमा कोर्ट में पहुँचा। सरकार ने दोनों में कौन सच्चा कौन झूठा? इसका इन्साफ करने के लिए दोनों ओर के साधुओं को बुलाया। "स्था० की ओर से पूज्य रूपचन्दजी के शिष्य जेठमलजी आदि २८ साधु उस सभा में रहने को चुने गये" और सामने वाले पक्ष की ओर से "बीरविजय आदि मुनि और शास्त्री हाजिर हुए।" मुझे जो यादी मिली है, उससे मालूम होता है कि मूर्तिपूजकों का पराजय हुआ और मूर्तिविरोधियों का जय हुआ।" शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी-कृत "समकित्तसार" पढ़ना चाहिए × × × १८७८ के पौष सुदि १३ के दिन मुकद्दमा का जजमेन्ट (फैसला) मिला।"

ऐ० नों० पृ० १२६।

शाह शास्त्रार्थ होने का वर्ष १७८७ बताते हैं और मिति उसी वर्ष के पौष मास की १३। शाह ने वर्ष-मिति की यह कल्पना पं० वीरविजयजी और ऋषि जेठमलजी के बीच हुए शास्त्रार्थ की यादगार में पं० उत्तम-विजयजी द्वारा निर्मित “लुंपकलोप-तपगच्छ जयोत्पत्ति बरुंगन रास” के ऊपर से गढ़ी है, क्योंकि उत्तमविजयजी के बनाये हुए रास की समाप्ति में सं० १७८७ के वर्ष का और माघ मास का उल्लेख है। शाह ने उसी वर्ष को शास्त्रार्थ के फैसले का समय मान कर पौष शुक्ल १३ का दिन लिख दिया है पर वार नहीं लिखा, क्योंकि वार लिखने से लेख की कृत्रिमता तुरन्त पकड़ी जाने का भय था। शाह का यह फैसला उनके दिमाग की कल्पना मात्र है, यह बात निम्न लिखे विवरण से प्रमाणित होगी -

“समकित्तसार” के लेखक जेठमलजी लिखते हैं - श्री वद्वंमान स्वामो मोक्ष गए तब चौथा आरा के ३ वर्ष और साढ़े आठ मास शेष थे। उसके बाद पांचवां आरा लगा और पांचवे आरे के ४७० वर्ष तक वीर संवत् चला, उसके बाद विक्रमादित्य ने संवत्सर चलाया, जिसको आजकल १८६५ वर्ष हो चुके हैं।”

शाह के जजमेन्ट के समय में अहमदाबाद में कम्पनी का राज्य हो चुका था और अंग्रेजी अदालत में ही अर्जी हुई और जजमेन्ट भी अंग्रेजी में लिखा गया था, फिर भी जजमेन्ट में अंग्रेजी तारीख न लिखकर पौष सुदि १३ लिखा है इसका अर्थ यही है कि उक्त जजमेन्ट उत्तमविजयजी के रास के आधार से शाह वाड़ीलाल ने लिखा है, जो कल्पित है यह निश्चित होता है।

शाह शास्त्रार्थ के फैसले में लिखते हैं - “शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी कृत समकित्तसार पढ़ना चाहिए,” यह शाह का दम्भ वाक्य है और “समकित्तसार” के प्रचार के लिए लिखा है, वास्तव में जेठमलजी के “समकित्तसार” में वीरविजयजी के साथ होने वाले शास्त्रार्थ की सूचना तक भी नहीं है।

“ऐतिहासिक नोध” के पृष्ठ १३० में शाह लिखते हैं “परन्तु किसी प्रकार के लिखित प्रमाण के अभाव में किसी तरह की टीका करने को खुश नहीं हूँ।” भला किसी लिखित प्रमाण के अभाव में शास्त्रार्थ का जजमेन्ट देने को तो खुश हो गए तब उस पर टीका-टिप्पणी करने में आपत्ति ही क्या थी ? परन्तु शाह अच्छी तरह समझते थे कि केवल निराधार बातों की टीका-टिप्पणी करता हुआ कहीं पकड़ा जाऊंगा, इसलिए वे टीका करने से बाज आए हैं।

शाह स्वयं स्वीकार करते हैं कि दोनों सम्प्रदायों के बीच होने वाले शास्त्रार्थ में कौन जीता और कौन हारा, इसका मेरे पास कोई लिखित प्रमाण नहीं है, इससे इतना तो सिद्ध होता है कि इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में जेठमलजी ऋषि अथवा उनके अनुयायियों ने कुछ भी लिखा नहीं है, अन्यथा शाह बाड़ीलाल को ऐसा लिखने का कभी समय नहीं आता। पं० धीरविजयजी और उनके पक्षकारों ने प्रस्तुत शास्त्रार्थ का सविस्तर वर्णन एक लम्बी ढुंढक चौपाई बनाकर किया है, जिसमें दोनों पक्षों के साधुओं तथा श्रावकों के नाम तक लेख-बद्ध किये हैं, इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रार्थ में जय मूर्तिविरोध पक्ष का नहीं, परन्तु मूर्तिपूजा मानने वाले पं० धीरविजयजी के पक्ष का हुआ था, इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में लिखित प्रमाण होते हुए भी शाहने अपने पक्ष के विरुद्ध होने से उनको छुआ तक नहीं है।

रासकार पं० उत्तमविजयजी कहते हैं—मुँहपर पाय बांधकर गांव गांव फिरते और लोगों को भ्रमणा में डालते हुए एक समय लौंका के अनुयायी साणंद आये और वहां लोगों को फंसाने के लिए पास फैलाया, वहां पर तपागच्छ का एक श्रावक नानचन्द शांतिदास रहता था, कर्मवश वह ढुंढको के फंदे में फंस गया। वह ढुंढकों को मानने लगा और परापूर्व के अपने जैनधर्म को भी पालता था, इस प्रकार कई वर्षों तक वह पालता रहा और बीसा श्रीमाली न्यात ने उसको निभाया, अब नानूशाह के पुत्रों की बात कहता हूँ। अफीमची, अमरा, परमा पनजी और हमका ये चारों पुत्र भी न्यात जात की शर्म छोड़कर ढुंढकधर्म पालने लगे, इस समय न्यात

ने देखा कि यह चेप बढ़ रहा है, अब इसका प्रतीकार करना जरूरी है, यह सोचकर नानचन्द और उसके पुत्रों को न्यात से बहिष्कृत कर दिया, कोई उनकी पानी तक नहीं पिलाता था। सगे सम्बन्धी भी अलग हो गये, फिर भी वे अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते थे। उनके घरों में लड़कियां १२-१२ वर्ष की हो गई थीं, फिर भी उनसे कोई संबन्ध नहीं करता या और जो लड़की राजनगर में व्याही थी वह भी न्याती का विचार कर घर नहीं आती थी इस पर नानचन्द ने अपनी न्यात पर १४ हजार रुपये का राजनगर की राज्यकोर्ट में दावा किया।”

उधर अमरचन्द के घर में उसकी औरत के साथ रोज क्लेश होने लगा। औरत कहती - “तुमने न्यात के विरुद्ध भगड़ा उठाया, यह मूर्खता का काम किया। न्यात से लड़ना भगड़ना आसान बात नहीं। पहले यह नहीं सोचा कि इसका परिणाम क्या होगा, तुमने न्यात से सामना किया और लोगों के उपालम्भ में खाती हूँ बड़ी उम्रकी बेटी को देखकर मेरी छाती जलती है,” साह अमरा अपनी औरत की बातों से तंग आकर शा० पूंजा टोकर से मिला और कहने लगा - न्यात बहिष्कृति वापस खींचकर हमें न्यात में कैसे लें, इसका कोई मार्ग बताओ। बेटी बड़ी हो गई है, उसको व्याहे बिना कैसे चलेगा, अमरा की बात सुनकर पूंजाशाह ने अमरा को उल्टी सलाह दी, कहा - न्यात पर कोर्ट में अर्जी करो, इस पर अमरा ने अर्जी की और अपनी पुत्रों को संभाल के रहने वाले किसान दुण्डक को व्याह दी। पूंजाशाह ने न्यात में कुछ “करियावर” किया - तब उनके वेवाई जो दुण्डक थे, उसके वहां मर्यादा रखी तो भी दुण्डक लज्जित नहीं हुए, बहुत दिनों के बाद जब अर्जी की पेशी हुई तब शहर के धर्मप्रेमी सेठ भगवान् इच्छाचन्द मारकचन्द और अन्य भी जो धर्म के अनुयायी थे सब अदालत में न्यायाय गए। अदालत ने अर्जी पर हुक्म दिया कि “मामला धर्म का है, इसलिए सभा होगी तब फैसला होगा, दोनों पक्षकार अपने-अपने गुरुओं को बुलाकर पुस्तक प्रमाणां के साथ सभा में हाजिर हों,” अदालत का हुक्म होते ही गांव-गांव पत्र-वाहक भेजे, फिर भी कोई दुण्डक आया नहीं था।

इस समय पाटन में रहे हुए जेठमलजी ऋषि ने अहमदाबाद पत्र लिखा कि 'मूर्तिपूजकों की तरफ से वाद करने वाला विद्वान् कौन आएगा ? मूर्तिपूजकों की तरफ से एक वीरविजयजी भगड़े में आयें तो अपने पक्ष के सब ऋषि राजनगर आने के लिए तैयार हैं,' इस प्रकार का जेठमलजी ऋषि का पत्र पढ़कर प्रेमाजी ऋषि ने गलत पत्र लिखा कि "वीरविजयजी यहां पर नहीं है और न आने वाले हैं" इस मतलब का पत्र पढ़कर जेठमलजी ऋषि लगभग एक गाड़ी के बोग्ग जितनी पुस्तकें लेकर अहमदाबाद आए और एक गली में उतरे, वहां बैठे हुए अपने पक्षकारों से सलाह मशविरा करने लगे। लीम्बडी गांव के रहने वाले देवजी ऋषि अहमदाबाद आने वाले थे परन्तु विवाद के भय से बोमारी का बहाना कर खुद नहीं आए और अपने शिष्य को भेजा। मूलजी ऋषि जो शरीर के मोटे ताजे थे और चलते वक्त हांफते थे, इसलिए लोगों ने उनका नाम "पूज्यहाँफूस" ऐसा रख दिया था। इनके अतिरिक्त नरसिंह ऋषि जो स्थूलबुद्धि थे। वसराम ऋषि आदि सब मिलकर ८१ ढुण्डक साधु जो मुंह पर मुंहपत्ति बांधे हुए थे, अहमदाबाद में एकत्रित हुए।

शहर में ये सर्वत्र भिक्षा के लिए फिरते थे। लोग आपस में कहते थे - ये ढुण्डिये एक मास भर का अन्न खा जायेंगे। तब दीनानाथ जोशी ने कहा - "फिकर न करो आने वाला वर्ष ग्यारह महीने का है," जोशी के वचन से लोग निश्चिन्त हुए। श्रावक लोग उनके पास जाकर प्रश्न पूछते थे, परन्तु वे किसी को उत्तर न देकर नये-नये प्रश्न आगे धरते थे। तपागच्छ के पण्डितों के पास जो कोई प्रश्न आते उन सब का वे उत्तर देते, यह देखकर ढुण्डकमत वाले मन में जलते थे, इस प्रकार सब अपनी पार्टी के साथ एकत्रित हुए। इतने में सरकारी आदमी ने कहा - "साहब अदालत में बुलाते हैं," उस समय जो पण्डित नाम धराते थे, सभा में जाने के लिए तैयार हुए; मन्दिर मार्गियों के समुदाय में सब से आगे पं० वीरविजयजी चल रहे थे, उनकी मधुर वाणी और विद्वत्ता से परिचित लोग कह रहे थे - जयकमला वीरविजयजी को धरेगी। हितचिन्तक कहते थे - महाराज !



अच्छे शकुन देखकर चलियेगा, इतने में एक मालिन फूलमाला लेकर वीरविजयजी को सामने मिली इस शकुन को देखकर जानकार कहने लगे - ये शकुन जेठाजी ऋषि को हरायेंगे और उनके समर्थक नीचां देखेंगे। वीर-विजयजी से कहा - तुम्हारी कीर्ति देश-देश में फैलेगी। उस समय वीर-विजयजी के साथ खुशालविजयजी, मानविजयजी, भुजनगर से आये हुए आनन्दशेखरजी, खेड़ा के चौमासी दलीचन्दजी और सागांद से आये हुए लब्धिविजयजी आदि विद्वान् साधु चल रहे थे, इतना ही नहीं गांव-गांव के पढ़े लिखे श्रोता श्रावक जैसे बीसनगर के गलालशाह, जयचन्दशाह आदि। इन के अतिरिक्त अनेक साधु सूत्र-सिद्धान्त लेकर साथ में चल रहे थे और घन खर्च ने में श्रीमाली सेठ रायचन्द, बेचरदास, मनोहर, वक्त्रचन्द, महेता, मानचन्द आदि जित्तशासन के कार्य में उल्लास पूर्वक भाग ले रहे थे। भाविक श्रावक केसर चन्दन बरास आदि घिसकर तिलक करके भगवान् की पूजा करके जिनाज्ञा का पालन कर रहे थे, नगर सेठ मोतीभाई घर्म का रंग हृदय में धरकर सब-गृहस्थों के आगे चल रहे थे।

इधर ऋषि जेठमलजी अपने स्थान से निकलकर छोपा गली में पहुँचे, वहाँ सभी जाति के लोग इकट्ठे हुए थे, वहाँ से ऋषि जेठमलजी और उनकी टुकड़ी अदालत द्वारा बुलाई गई, सब सरकारी सभा की तरफ चले, मूर्ति-पूजक और मूर्तिविरोधियों की पाटियां अपने-अपने नियत स्थानों पर बैठी।

शास्त्रार्थ में पूर्वपक्ष मन्दिर-मार्गियों का था, इसलिए वादी पाटों के विद्वान् अपने-अपने शास्त्र-प्रमाणों को बताते हुए मूर्तिविरोधियों के मत का खण्डन करने लगे। जब पूर्व पक्ष ने उत्तर पक्ष की तमाम मान्यताओं को शास्त्र के आधार से निरावार ठहराया तब प्रतिमापूजा-विरोधी उत्तर पक्ष ने अपने मन्तव्य का समर्थन करते हुए कहा - "हम प्रतिमापूजा का खण्डन करते हैं, क्योंकि प्रतिमा में कोई गुण नहीं है, न सूत्र में प्रतिमापूजा कही है, क्योंकि दशवें अंग सूत्र "प्रश्न व्याकरण" के आश्रवद्वार में मूर्ति पूजने वालों को मन्दबुद्धि कहा है और निरंजन निराकार देव को छोड़कर चंत्या-लय में मूर्ति पूजने वाला मनुष्य अज्ञानी है।"

उत्तर पक्ष की युक्तियों को सुनकर पं० वीरविजयजी प्रत्युत्तर देते हुए बोले - "तुम दुण्डक लोगों का प्रवाह जानवरों के जंसा है, जिस प्रकार जानवरों के टोले को एक आदमी जिघर ले जाना चाहता है, उसी तरफ ले जाता है, वही दशा तुम्हारी हैं, तुम्हारे आदि गुरु लौका ने किसी को गुरु नहीं किया और मूर्तिपूजा आदि का विरोध कर अपना मत स्थापित किया, उसी प्रकार तुमने भी किसी भी ज्ञानी गुरु के बिना उनको बातों को लेकर उसके पन्थ का समर्थन किया है, जिससे एक को साधते हो और दस दूटते हैं। प्रतिमा में गुण नहीं कहते हो तो उसमें दोष भी तो नहीं है और उसके पूजने से भक्तिगुण की जो पुष्टि होती है वह प्रत्यक्ष है। सूत्र-सिद्धान्त में अरिहन्त भगवन्त ने जिनप्रतिमा पूजनीय कही है आश्रव द्वार में प्रतिमापूजा वालों को मन्दबुद्धि कहा है - वह प्रतिमा जिन की नहीं, परन्तु नाग भूत आदि की समझना चाहिए ऐसा "अंगविद्या" नामक ग्रन्थ में कहा है। इतना ही नहीं बल्कि उसी "प्रश्नव्याकरण" अंग के सवरद्वार से जिनप्रतिमा की प्रशंसा की है और पूजने वाले के कर्मों को निबल करने वाली बताई है। छठे अंग "ज्ञातासूत्र" में द्रौपदी के ठाठ के साथ पूजा करने का पाठ है, इसके अतिरिक्त त्रिधाचारणमुनि जिनप्रतिमा वन्दन के लिए जाते हैं, ऐसा भगवती सूत्र में पाठ है। सूर्याभदेव के शाश्वत जिनप्रतिमाओं की पूजा करने का "राजप्रश्नीय" में विस्तृत वर्णन दिया हुआ है और "जीवाभिगम" सूत्र में विजयदेव ने जिनप्रतिमा की पूजा करने का वर्णन विस्तारपूर्वक लिखा है, इस प्रकार जिन-जिन सूत्रों में मूर्तिपूजा के बाठ थे वे निकालकर दिखाये जिस पर दुण्डक कुछ भी उत्तर नहीं न दे सके। आगे पं० वीरविजयजी ने कहा - जब स्त्रा ऋतुधर्म से अपवित्र बनती है, तब उसको "सूत्र-सिद्धान्त" पढ़ना तथा पुस्तकों को छूना तक शास्त्र में निषेध किया है। यह कह कर उन्होंने "ठाणाङ्ग" सूत्र का पाठ दिखाया, तब दुण्डकों ने राजसभा में मंजूर किया कि ऋतुकाल में स्त्री को शास्त्र पढ़ना जैन सिद्धान्त में वर्जित किया है। परन्तु यह बात शास्त्रार्थ के अन्तर्गत नहीं है हमारा विरोध प्रतिमा से है इसके उत्तर में वीरविजयजी ने कहा - यज्ञ कराने वाला शयम्भव भट यूग के नीचे से निकली हुई शान्तिनाथ की प्रतिमा को देखकर प्रतिबोध पाया, इसी प्रकार अनेक भव्य मनुष्यों ने जिनप्रतिमा के दर्शन से जैनधर्म

को पाया और दीक्षा लेकर मोक्ष के अधिकारी हुए। प्रतिमा का विरोध करने वाले लौका के अनुयायी सं० १५३१ में प्रकट हुए, उसके पहले जैन नामधारी कोई भी व्यक्ति जिनप्रतिमा का विरोधी नहीं था। इस पर नृसिंह ऋषि बोले - सूत्र में जिनप्रतिमा का अधिकार है यह बात हम मानते हैं, परन्तु हम स्वयं प्रतिमा को जिन के समान नहीं मानते। नरसिंह ऋषिजी के इन इकबाली बयानों से भद्रालत ने मूर्तिपूजा मानने वालों के पक्ष में फैसला सुना दिया और जैनशासन की जय बोलता हुआ मूर्तिपूजक समुदाय वहां से रवाना हुआ।

बाद में मूर्तिपूजा विरोधियों के भ्रगुभ्रात्रों ने संघ के नेताओं से मिल कर कहा - "हम शहर में भूठे तो कहलाये, फिर भी हम वीरविजयजी से मिल कर कुछ समाधान करले। इसलिए जेठमलजी ऋषि को वीरविजयजी मिलें ऐसी व्यवस्था करो" इस पर इच्छाशाह ने कहा - यह तो चोरों की रीति है, साहूकारों को तो खुल्ले भ्राम चर्चा करनी चाहिए। तुम मूर्ति को उत्थापन करते हो, इस सम्बन्ध में तुम से पूछे गये १३ प्रश्नों के उत्तर नहीं देते, राजदरबार में तुम भूठे ठहरे, फिर भी धीठ बनकर एकान्त में मिलने की बातें करते हो?, मोटे ताजे मूलजी ऋषि भद्रालत में तो एक कोने में जाकर बैठे थे और अब एकान्त में मिलने की बात करते हैं?, अगर अब भी जेठाजी ऋषि और तुमको शास्त्रार्थ कर जीतने की होंश हो तो हम बड़ी सभा करने को तैयार हैं। उनमें शास्त्र के जानकार चार पण्डितों को बुलायेंगे, दूसरे भी मध्यस्थ पण्डित सभा में हाजिर होंगे। वे जो हार-जीत का निर्णय देंगे, दोनों पक्षों को मान्य करना होगा। तुम्हारे कहने मुजब एकान्त में मिलकर कुलड़ी में गुड़ नहीं भांगेंगे।

सभा करने की बात सुनकर प्रतिपक्षी बोले - हम सभा तो नहीं करेंगे, हमने तो आपस में मिलकर समाधान करने की बात कही थी।

सभा करने का इन्कार सुनने के बाद प्रतिमा पूजने वालों का समुदाय और प्रतिमा-विरोधियों का समुदाय अपने-अपने स्थान गया।

अपने स्थानक पर बाने के बाद जेठाजी ऋषि ने हकमाजी ऋषि को कहा - आज राजनगर में अपने धर्म का जो पराजय हुआ है, इसका

मुख्य कारण तुम हो। हमने पहले ही तुमको पूछाया तो तुमने लिखा कि शहर में शास्त्रार्थ करने वाला कोई पण्डित नहीं है। तुम्हारे इस झूठे पत्र के भरोसे हम सब हर्षपूर्वक यहाँ आये और लूटे गये। इस प्रकार एक दूसरे की भूलें निकालते हुए, दुष्टक अहमदाबाद को छोड़ कर चले गये। शहर से बहुत दूर निकल जाने के बाद वे गांव-गांव प्रचार करने लगे कि राजनगर की अदालत में हमारी जीत हुई। ठीक तो है, सुवर्ण थाल से कांसे का रणकार ज्यादा ही होता है। विष को बघारना इसी को तो कहते हैं, “काटने वाला घोड़ा और आंख से काना”, “भूठा गाना और होली का त्योहार”, “रण का जंगल और पानी खारा” इत्यादि कहावतें ऐसे प्रसंगों पर ही प्रचलित हुई हैं।

रास के रचियता पं० श्री उत्तमविजयजी जो उस शास्त्रार्थ के समय वहाँ उपस्थित थे, रास की समाप्ति में अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहते हैं -

“जैनिक वस्तु लहिइरे ॥ जं० ॥ निदा तेनो नवी कहिइरे ॥ जं० ॥  
 अहमदाबाद सेहर मजार रे ॥ जं० ॥ सह चढ्या हता वरबार रे ॥ जं० ॥ ३ ॥  
 करयो न्याय अदालत मांथे रे ॥ जं० ॥ त्यारे अमे गया ता साथे रे ॥ जं० ॥  
 त्यारे दुष्ट सभा थी भागा रे ॥ जं० ॥ जिनसासन डंका वागा रे ॥ जं० ॥ ४ ॥  
 ए वातो नजरें दीठी रे ॥ जं० ॥ हइयामां लागी मीठी रे ॥ जं० ॥  
 जब जाजा वरसते थाय रे ॥ जं० ॥ तव कांडक वीसरि जाय रे ॥ जं० ॥ ५ ॥  
 पछे कोइ नर पुछाय रे ॥ जं० ॥ आडुं अवलुं बोलाय रे ॥ जं० ॥  
 जूठा बोला करी गाय रे ॥ जं० ॥ दुनिया जीति नवि जाय रे ॥ जं० ॥ ६ ॥  
 अंग घौथुं जे समवाय रे ॥ जं० ॥ जूठा ना पाप गवाय रे ॥ जं० ॥  
 अमें जूठ नथी कहेंवाय रे ॥ जं० ॥ आटा मां लूण समाय रे ॥ जं० ॥ ७ ॥  
 जिन सासन फरसी छाय रे ॥ जं० ॥ साचा बोला मुनि राय रे ॥ जं० ॥  
 जे मृग तूषणा जल घाय रे ॥ जं० ॥ ते आपमति कहेवाय रे ॥ जं० ॥ ८ ॥  
 अमे अवलंब्या गृह पाय रे ॥ जं० ॥ साचुं सोनुं ते कसाय रे ॥ जं० ॥  
 साची बातों अमे भाषी रे ॥ जं० ॥ छे लोक हजारो साखी रे ॥ जं० ॥ ९ ॥

अदार अठयोत्तर वरसे रे ॥ जं० ॥ सुदि पौष नी तेरस द्विधमें रे ॥ जं० ॥  
 कुमति ने शिक्षा दीधी रे ॥ जं० ॥ तव रास नी रचना कीधी रे ॥ जं० ॥ १७ ॥  
 राधनपुर ना रहेवासी रे ॥ जं० ॥ तपगच्छ केरा चौमासी रे ॥ जं० ॥  
 खुशालविजयजी नु सीस रे ॥ जं० ॥ कहे उत्तमविजय जयोस रे ॥ जं० ॥ ११ ॥  
 जे नारी रस भर गास्ये रे ॥ जं० ॥ सोभाग्य अर्षडित बास्ये रे ॥ जं० ॥  
 सांभल से रास रसीला रे ॥ जं० ॥ ते लेस्ये अविचल सीला रे ॥ जं० ॥ १२ ॥

“॥इति लुंपक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास संपूर्ण । सं०  
 १८७८ ना वर्षे माघ मासे कृष्णपक्षे ५ वार चन्द्र पं० वीरविजयजी नीं  
 प्राज्ञा थीं कत्तपुरा गच्छे राजनगर रहेवासी पं० उत्तमविजय । सं० १८८२  
 र. वर्षे लिपिकृतमस्ति पाटम नगरे पं० मोतीविजय ॥”

‘जो निन्दक होता है, उसके वास्तविक स्वभाव का वर्णन करना वह  
 निन्दा नहीं है । अहमदाबाद में जब दोनों पार्टियां कोर्ट में जाकर लड़ी थीं  
 और अदालत ने जो फंसला दिया था, उस समय हम भी अदालत में उनके  
 साथ हाजिर थे । दुष्टकों के विपक्ष में फंसला हुआ और जैनशासन का  
 डंका बजा, तब दुष्टक समा को छोड़ कर चले गये थे । यह हमने अपनी  
 आंखों से देखी बात है । जब कोई भी घटना घटती है और उसको  
 अधिक समय हो जाता है, तब वह विस्मृत हो जाती है । लम्बे काल के  
 बाद उस घटना के विषय में कोई पूछता है तो वास्तविक स्थिति से ज्यादा  
 कम भी कहने में आ जाता है और तब जानकार लोग उसको असत्यवादी  
 कहते हैं, हालांकि कहने वाला विस्मृति के बश ऊंचा-नीचा कह देता है,  
 परन्तु दुनियां को कौन जीत सकता है, वह तो उसको असत्यवादी मान  
 लेती हैं । चौथे समवायांश सूत्र में असत्य बोलने का पाप बताया है,  
 इसलिये जो बात क्यों बनी है हम वही कहते हैं । वर्णन में असत्य की  
 मात्रा घाटे में नमक के हिसाब से रह सकती है, अधिक नहीं । जिन्होंने  
 जैनशासन को छाया का भी स्पर्श किया है, वैसे मुनि तो सत्यभाषी ही  
 कहलाते हैं । जो मूढ की तरह मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते हैं, वे आपमति  
 कहलाते हैं । हमने तो गुरु के चरणों का आश्रय लिया है । जिस प्रकार

सच्चा सोना कसौटी पर कसा जाता है, हमारी बातों की सच्चाई के हजारों लोग साक्षी हैं ।

सं० १८७८ के पौष सुदि १३ के दिन जब दुर्बुद्धि मूर्खिलोपकों को शिक्षा दी, उस समय इस रास की रचना की है । राधनपुर रहने वाले तपागच्छ के चौमासी श्री खुशालविजयजी के शिष्य उत्तमविजयजी कहते हैं — जो नारी इस रास को रसपूर्वक गायेगी उसका सौभाग्य अखंडित होगा और जो इस रसपूर्ण रास को सुनोगे वे शाश्वत सुख पायेंगे ।

“इस प्रकार लुम्पक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास पूर्ण हुआ । सं० १८७८ के माघ कृष्णपक्ष में ५ सोमवार को पंडित बीरविजयजी की आज्ञा से कत्तपुरागच्छीय राजनगर के निवासी पं० उत्तमविजयजी ने रास की रचना की और सं० १८८२ के वर्ष में पं० मोतीविजय ने पाटन नगर में यह प्रति लिखी ॥”

उपर्युक्त पं० उत्तमविजयजी के रास से और वाडीलाल मोतीलाल शाह के जजमेन्ट से प्रमाणित होता है कि “समकितसार” के निर्माण के बाद स्थानकवासियों का प्रचार विशेष हो रहा था, इसलिए इस प्रचार को रोकने के लिए अहमदाबाद के जैनसंघ ने स्थानकवासियों के सामने कड़ा प्रतिबन्ध लगाया था । परिणामस्वरूप अदालत द्वारा दोनों पार्टियों से सभा में शास्त्रार्थ करवा कर निर्णय किया था । निर्णयानुसार स्थानकवासी पराजित होने से उन्हें अहमदाबाद छोड़ कर जाना पड़ा था ।



# प्रभुवीर - पट्टावली (१)

स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा संकलित "प्रभुवीर पट्टावली" के पृ० १५७ में ३३ पट्टधरों के उपरान्त आगे के पट्टधरों के नाम निम्न प्रकार से दिये हैं -

३४ वर्धनाचार्य	४२ जयदत्ताचार्य
३५ भूराचार्य	४३ जयदेवाचार्य
३६ सूदनाचार्य	४४ जयघोषाचार्य
३७ सुहस्ती	४५ वीरचक्रधर
३८ वर्धनाचार्य	४६ स्वातिसेनाचार्य
३९ सुबुद्धि	४७ श्री वन्ताचार्य
४० शिवदत्ताचार्य	४८ सुमतिआचार्य ( लौकाशाह के गुरु )
४१ वरदत्ताचार्य	

अब हम पंजाब की पट्टावली और श्री मणिलालजी की पट्टावली के नाम तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तो वे एक दूसरे से मिलते नहीं हैं, इसका कारण यही है कि ये दोनों पट्टावलियां कल्पित हैं और इसी कारण से पंजाबी स्थानकवासियों की पट्टावली के अनुसार लौकाशाह के गुरु ज्ञानजी यति का पट्ट नं० ६० वां दिया है, तब श्री मणिलालजी ने ज्ञानजी यति के स्थान पर "सुमति" आचार्य नाम लिखा है और उनको ४८ वां पट्टधर लिखा है।



# स्थानकवासी पंजाबी साधुओं की पट्टावली (३)

पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोध" पृ० १६३ में दी गई है, उसमें देवद्विगण के बाद के १८ नाम छोड़कर शेष ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे हैं -

४६ हरिसेन	५३ महासेन
४७ कुशलदत्त	५४ जयराज
४८ जोवनर्षि	५५ गजसेन
४९ जयसेन	५६ मिश्रसेन
५० विजयर्षि	५७ विजयसिंह
५१ देवर्षि	५८ शिवराज
५२ सूरसेन	५९ लालजोमल्ल

६० ज्ञानजी यति





# सुतागमों की प्रस्तावनों की स्थानकवासी पहावली ( ४ )

१ सुधर्मा	२ जम्बू	३ प्रभव
४ शय्यम्भव	५ यशोभद्र	६ सम्भूति
७ आर्य भद्रबाहु	८ स्थूलभद्र	९ आर्य महागिरि
१० बलिस्सह	११ सन्तायरिय	१२ श्यामाचार्य
१३ साण्डिल्य	१४ जिनघर्म	१५ समुद्र
१६ नन्दिल	१७ श्री नागहस्ती	१८ रेवत
१९ खन्दिल	२० सिंहगिरि	२१ श्रीमन्त
२२ नागार्जुन	२३ गोविन्द	२४ भूतदिन्न
२५ लोहाचार्य	२६ दुप्रस्सह	२७ देवद्विगणि
२८ वीरभद्र	२९ शिवभद्र	३० जसवीर
३१ वीरसेन	३२ गिणज्जामय	३३ जससेन
३४ हर्षसेन	३५ जयसेन	३६ जयपाल गणि
३७ देवर्षि	३८ भीमसेन	३९ कर्मसिंह
४० राजर्षि	४१ देवसेन	४२ शंकरसेन
४३ लक्ष्मीलाम	४४ रामर्षि	४५ पद्माचार्य
४६ हरिश्चर्मा	४७ कुशलप्रभ	४८ उन्मूनाचार्य
४९ जयसेन	५० विजयर्षि	५१ श्री देवचन्द्र
५२ सूरसेन	५३ महार्सिंह	५४ महासेन
५५ जयराज	५६ मजसेन	५७ मित्रसेन
५८ विजयसिंह	५९ शिवराज	६० लालाचार्य

६१ ज्ञानाचार्य	६२ भाणा	६३ रूपाचार्य
६४ जीवर्षि	६५ तेजराज	६६ हरजी
६७ जीवराज	७८ घनजी	६९ विस्सणायरियो
७० मनजी	७१ नाथूरामाचार्य	७२ लक्ष्मीचन्द्र
७३ छित्तरमल	७४ राजाराम	७५ उत्तमचन्द्र
७६ रामलाल	७७ फकीरचन्द्र	७८ पुष्कभिक्षू
७९ सुमिता	८० जिणचन्द्र	

( २०११ में जिनचन्द्र ने यह पट्टावली बनाई )



# श्रमणा - सुरतरु की स्थानकवासि - पट्टावली ( १ )

पुष्पभिक्षू की पट्टावली लिखने के बाद स्थानकवासी मुनि श्री मिश्रो-मलजी (मरुधर केसरी)-निर्मित "श्रमणासुरतरु" नामक एक पट्टक हमारे देखने में आया, उसमें दी गई सुषर्मा स्वामी से ज्ञानजी ऋषि पर्यन्त के ६७ नाम पट्टावली में लिखे गए हैं। तब पुष्पभिक्षू की नूतन पट्टावली में ज्ञानजी ऋषि को "ज्ञानाचार्य" नाम दिया है, और ६१ वां पट्टधर बताया है, इस प्रकार इन दो पट्टावलियों में ही छः नाम कम ज्यादाह आते हैं और जो नाम लिखे गए हैं उनमें से छः नाम दोनों में एक से मिलते हैं। वे ये हैं -

२८	आ०	वीरभद्रजी
३१	आ०	वीरसेनजी
३६	आ०	जगमालजी
३८	आ०	भीमसेनजी
४०	आ०	राजषिजी
४१	आ०	देवसेनजी

उपर्युक्त छः आचार्यों के नाम और नम्बर दोनों पट्टावलियों में एक से मिलते हैं। तब शेष देवद्विगण के बाद के ३४ नामों में से एक भी नाम एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाता, इससे प्रमाणित होता है कि देवद्विगण क्षमाश्रमण के बाद के ज्ञानजी यति तक के सभी नाम कल्पित हैं, जिनकी पहिचान यह है कि इन सब नामों के अन्त में 'जी' और 'महाराज' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, 'जी' कारान्त और 'महाराजान्त' नाम मौलिक नहीं है,

यह बात नामों की रचना और उनके प्रयोगों से ही पाठकगण अच्छी तरह समझ सकने हैं ।

सुधर्मा से देवद्विगण तक के २८ नामों में भी लेखक महोदय ने अनेक स्थानों में अशुद्धियां घुसेड़ दी है, इनके दिये हुए देवद्विगण क्षमाश्रमण तक के नाम वास्तव में किसी की गुरु-परम्परा के नाम नहीं हैं, किन्तु ये माथुरी वाचनानुयायी वाचक-वंश के नाम है, जिसका खरा कम निम्न प्रकार का है —

६ श्री आर्य महागिरि	१० श्री बलिस्सहसूरि
११ ,, स्वास्तिसूरि	१२ ,, श्यामार्य
१३ ,, जीतधर-शाण्डिल्य	१४ ,, आर्य समुद्र
१५ ,, आर्य मंगू	१५ ,, आर्य नन्दिल
१७ ,, नागहस्ती	१८ ,, रेवती नक्षत्र
१९ ,, ब्रह्मद्वीपकसिंह	२० ,, स्कन्दिल
२१ ,, हिमवान्	२२ ,, नागाजुंन
२३ ,, गोविन्द वाचक	२४ ,, भूतदिन्न
२५ ,, लोहित्य	२६ ,, दूष्यगण
२७ ,, देवद्विगण क्षमाश्रमण	

‘श्रमणसुरतरु’ के लेखक महाशय ने ११ वें नम्बर में सुहस्तीसूरि को रखा है, जो ठीक नहीं, क्योंकि महागिरि के बाद उनके अनुयोग-धर शिष्यों के नाम ही आते हैं, सुहस्ती का नहीं ।

१२ वें नम्बर में आचार्यश्री शान्ताचार्य लिखा है, इसी लाइन में नन्दिलाचार्य नाम लिखा है, वे भी यथार्थ नहीं हैं, खरा नाम स्वात्याचार्य है । सुप्रतिबुद्ध का नाम वाचक-परम्परा में नहीं है, किन्तु सुहस्तीसूरि की शिष्य-परम्परा में है और नन्दिल का नाम १६ वें नम्बर में आता है ।

१३ वां नम्बर स्कन्दिलाचार्य का दिया है, जो गलत है । १३ वें नम्बर के श्रुतधर जीतश्रुतधर शाण्डिल्य हैं, स्कन्दिल नहीं । स्कन्दिलाचार्य का

नम्बर २० वां है, १३ वां नहीं, कोष्टक में आर्यदित्र का नाम भी गलत लिखा है, आर्यदित्र आर्य सुहस्ती की परम्परा के स्थविर थे और इनका पट्ट नम्बर ११ वां था, १३ वां नहीं ।

१४ वें नम्बर में जीतघर स्वामी का नाम लिखा है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि जीतघर विशेष नाम नहीं है, किन्तु १३ वें नम्बर के आर्य शाण्डिल्य का विशेषण मात्र है ।

१५ वें नम्बर में आर्य समुद्र का नाम दिया है पर आर्य समुद्र १४ वें नम्बर में हैं और आगे कोष्टक के श्री वज्रघर स्वामी ऐसा नाम लिखा है, यह भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि इस नाम के कोई भी स्थविर हुए ही नहीं हैं ।

१६ वें नम्बर के आगे “वयर-स्वामी” लिखा है, जो गलत है, इस नम्बर के नन्दिलाचार्य स्थविर ही हुए हैं, इनके आगे वज्रशाख १, चन्द्रशाखा २, निवृत्तिशाखा ३ और ४ विद्याधरीशाखा नाम लिखे हैं, ये भी यथार्थ नहीं हैं । वज्रस्वामी से वाज्जीशाखा जरूर निकली है, “चन्द्र” नाम कुल का है शाखा का नहीं इसी तरह “निवृत्ति” नहीं किन्तु “निवृति” नाम है और वह नाम शाखा का नहीं “कुल” का है, इसी तरह “विद्याधर” भी “कुल” का नाम है । शाखा का नहीं ।

१७ वें नम्बर के आचार्य “रेवतगिरि” “श्री आर्यरक्षित” और श्री “धरणीघर” इनमें से पहले और तीसरे नाम के कोई श्रुतघर हुए ही नहीं है और आर्यरक्षित हुए हैं, तो इनका नम्बर २० वां है, १७ वां नहीं ।

१८ वें और १९ वें नम्बर के आगे आचार्य “श्री सिंहगणि” और “स्थविर-स्वामी” ये नाम लिखे हैं, परन्तु दोनों नाम गलत है, क्योंकि इन नामों के कोई श्रुतघर हुए ही नहीं, सिंहगणि के आगे शिवभूति का नाम लिखा है, सो ठीक है परन्तु शिवभूति वाचक-वंश में नहीं किन्तु देवद्विगणि की मुवावली में है, यह बात लेखक को समझ लेना चाहिए थी ।

२० वें नम्बर में आचार्य शाण्डिल्य का नाम लिखा है, और कोष्टक में आर्य नागहस्ती एवं आर्य भद्र के नाम हैं, परन्तु ये शाण्डिलाचार्य श्रुतघर शाण्डिल्य नहीं, क्योंकि श्रुतघर शाण्डिल्य का नाम १३ वां है, जो पहले लेखक ने खन्दिलाचार्य के रूप में लिख दिया है। प्रस्तुत शाण्डिल्य आर्य नागहस्ती और आर्य भद्र ये तीनों नाम देवद्विगण की गुर्वावली के हैं और गुर्वावली में इनके नम्बर क्रमशः ३३, २२ और २० हैं, जिनको लेखक ने ऊटपटांग कहीं के कहीं लिख दिए हैं।

२५ वें नम्बर के आगे श्री लोहगण नाम लिखा है, सो ठीक नहीं, शुद्ध नाम "लोहित्यगण" है।

२६ नम्बर के आगे इन्द्रसेनजी लिखकर कोष्टक में दूष्यगण लिखा है, वास्तव में "इन्द्रसेनजी" कोई नाम ही नहीं है, शुद्ध नाम "दूष्यगण" ही है।

जैनसंघ तीर्थयात्रा को जा रहा था। लौकाशाह जहां अपने मत का प्रचार कर रहे थे वहां संघ पहुंचा और वृष्टि हो जाने के कारण संघ कुछ समय तक रुका। संघजन लौका का उपदेश सुनकर "दयाधर्म के अनुयायी बन गए और संघ को आगे ले जाने से रुक गए," यह कल्पित कहानी स्थानकवासी सम्प्रदाय की अर्वाचीन पट्टावलियों में लिखी मिलती है; परन्तु न तो सिरोही स्टेट के अन्दर अहवाड़ा अथवा अहंटवाड़ा नामक कोई गांव है, न इस कहानी की सत्यता ही मानी जा सकती है, तब अहवाड़ा में लौका का जन्म बताने वाली बात सत्य कैसे हो सकती है। सं० १४७२ के कार्तिक सुदि १५ को गुरुवार होना पंचांग गणित के आधार से प्रमाणित नहीं होता, न उनके स्वर्गवास का समय ही १५४६ के चैत्र सुदि ११ को होना सिद्ध होता है।

उपर्युक्त दोनों संज्ञात् मनघडन्त लिखे हैं, क्योंकि उन दोनों तिथियों में "एफेमेरिज" के आधार से लिखित वार नहीं मिलते। अब रही दीक्षा की बात सो लौकागच्छ की किसी भी पट्टावली में लौकाशाह के दीक्षा लेने की बात नहीं लिखी। प्रत्युत केशवजी ऋषि ने लौका को अदीक्षित माना है,

तब २१ वीं सदी के स्थानकवासी श्रमणसंघ और "श्रमणसुरतरु" के लेखक मुनिजी को लौकाशाह के जन्म, दीक्षा और स्वर्गारोहण के समय का किस ज्ञान से पता लगा, यह सूचित किया होता तो इस पर कुछ विचार भी हो सकता था। खरी बात तो यह है कि पट्टावली-लेखकों तथा लौकागच्छ को अपना गच्छ कहने वालों को लौकाशाह को गृहस्थ मानने में संकोच होता था, इसलिये पंजावी पट्टावली में से लौकाशाह को पहले से ही ग्रहस्थ बना दिया था, अब मारवाड़ के श्रमणों को भी अनुभव होने लगा कि लौकाशाह को साधु न मानना अपने गच्छ को एक गृहस्थ का चलाया हुआ गच्छ मानना है, इसी का परिणाम है कि 'श्रमणसुरतरु' के लेखक ने लौकाशाह को दीक्षा दिलाकर "अपने गच्छ को श्रमण प्रवर्तितगच्छ बताने की चेष्टा की है," कुछ भी करें, लौका के अनुयायियों की परम्परा गृहस्थोपदिष्ट भाग पर चलने वाली है, वह इस प्रकार की कल्पित कहानियों के जोड़ने से आगमिक श्रमण-परम्पराओं के साथ जुड़ नहीं सकती।

प्रारम्भिक पट्टावलियों के विवरण में लौकागच्छीय और स्थानकवासियों की पट्टावलियों के सस्वन्ध में हम लिख आए हैं कि ये सभी पट्टावलियां छिन्नमूलक हैं। देवद्विगणि क्षमा-श्रमण तक के २७ नामों से भी इनका एकमत्य नहीं है। किसी ने देवद्विगणि क्षमा-श्रमण को आर्य-महागिरि की परम्परा के मानकर नन्दी की स्थविरावली में लिया है, तब किसी ने उन्हें आर्य-सुहस्ती की गुरु-परम्परा के स्थविर मानकर कल्पसूत्र की स्थविरावली में घसीटा है। वास्तव में दोनों प्रकार के लेखक देवद्विगणि-क्षमा-श्रमण की परम्परा लिखने में मार्ग भूल गये हैं।

देवद्विगणि-क्षमा-श्रमण के बाद के कतिपय स्थविरों को छोड़कर "प्रमुवीर पट्टावली" में उसके लेखक श्री मणिलालजी ने लौकाशाह के गुरु तक के जो नाम लिखे हैं, वे लगभग सब के सब कल्पित हैं। उधर पंजाव के स्थानकवासियों की पट्टावली में जो नाम देवद्विगणि के बाद १८ नामों को छोड़कर शेष लिखे हैं, उनमें से भी अधिकांश कल्पित ही जात होते हैं, क्योंकि साधुनिक स्थानकवासी साधु उनमें के अनेक नामों को भिन्न

प्रकार से लिखते हैं। पंजाब की पट्टावलियों में देवद्विगण-क्षमाश्रमण के वाद १८ नाम छोड़कर ज्ञानजी यति तक के जो नाम मिलते हैं, उनसे भी नहीं मिलने वाले प्राधुनिक स्थानकवासी पंजाबी साधु श्री फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के दूसरे भाग के प्रारम्भ में दी गई पट्टावली में उपलब्ध होते हैं, जो १८ नाम अन्य पट्टावलियों में नहीं मिलते, वे भी इसमें लिखे मिलते हैं।





## पुष्पभिक्षु की पञ्चावली (६)

२७ देवद्विगण क्षमाश्रमण	२८ वीरभद्र	२९ शिवभद्र
३० जसवीर	३१ वीरसेन	३२ गणज्जामय
३३ जससेन	३४ हर्षसेन	३५ जयसेन
३६ जयपाल गण	३७ देवर्षि	३८ भीमसेन
३९ कर्मसिंह	४० राजर्षि	४१ देवसेन
४२ शंकरसेन	४३ लक्ष्मीलाभ	४४ रामर्षि
४५ पद्माचार्य	४६ हरिशर्मा	४७ कुशलप्रभ
४८ उन्मनाचार्य	४९ जयसेन	५० विजयर्षि
५१ देवचन्द्र	५२ सूरसेन	५३ महार्सिंह
५४ महासेन	५५ जयराज	५६ गजसेन
५७ मित्रसेन	५८ विजयर्षि	५९ शिवराज
६० लालाचार्य	६१ ज्ञानाचार्य	६२ भाणाचार्य
६३ रूपाचार्य	६४ जीवर्षि	६५ तेजराज
६६ हरजी	६७ जीवराज	६८ धनजी
६९ विस्तरणायरिभो	७० मनजी	७१ नाथूरामाचार्य
७२ लक्ष्मीचन्द्र	७३ द्वितरमल	७४ राजाराम
७५ उत्तमचन्द्र	७६ रामलाल	७७ फकीरचन्द्र
७८ पुष्पभिक्षु	७९ सुमित्र	८० जिनचन्द्र

उपर्युक्त ८० नामों में से देवद्विगण पर्यन्त के २७ नाम ऐतिहासिक हैं। इनमें भी कतिपय नाम अस्त-व्यस्त और अशुद्ध बना दिये हैं। २७ में से ११वां, १४वां, २०वां, २१वां, २५वां और २६वां, ये सात नाम वास्तव

में देवद्विगण की वाचक-वंशावली के नहीं हैं और न देवद्वि की गुरु-परम्परा के ये नाम हैं, तथा २८ से लेकर ६० तक ये नाम कल्पित हैं। इन नामों के आचार्यों या साधुओं के होने का उल्लेख माधुरी या वालभी स्थविरावली में अथवा तो अन्य किसी पट्टावली स्थविरावली में नहीं है। ६१वां ज्ञानाचार्य वास्तव में वृद्धपौषघशालिक आचार्य ज्ञानचन्द्रसूरि हैं। इसके आगे के ६२ से लेकर ८० तक के १८ नामों में प्रारम्भ के कतिपय नाम लोकागच्छ के ऋषियों के हैं, तब अन्तिम कतिपय नाम पुष्पभिक्षु के बड़ेरों के और उनके शिष्य-प्रशिष्यों के हैं।

पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोंध" पृ० १६३ में दी है उसमें देवद्विगण के बाद के १८ नाम छोड़कर ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे हैं—

४६ हरिसेन	४७ कुशलदत्त	४८ जीवन्पि
४९ जयसेन	५० विजयपि	५१ देवपि
५२ सूरसेन	५३ महासेन	५४ जयराज
५५ गजसेन	५६ मिश्रसेन	५७ विजयसिंह
५८ शिवराज	५९ लालजीमल्ल	६० ज्ञानजी यति

पंजाबी साधु फूलचन्दजी ने अपनी नवीन पट्टावली में देवद्विगण-क्षमाश्रमण के बाद जो २८ से ४५ तक के नम्बर वाले नाम लिखे हैं वे तो कल्पित हैं ही, परन्तु उसके बाद के भी ४६ से ६० नम्बर तक के १५ नामों में से ७ नाम फूलचन्दजी की पट्टावली के नामों से नहीं मिलते। ४६वां पट्टाघर का नाम पंजाबी पट्टावली में हरिसेन है, तब फूलचन्दजी ने उसके स्थान पर हरिशर्मा लिखा है। पं० पट्टावली में ४७वां नाम कुशलदत्त है, तब फूलचन्दजी ने उसे कुशलप्रभ लिखा है। पं० पट्टावली में ४८वां नाम जीवन्पि है, तब फूलचन्दजी ने उसके स्थान पर "उमणायरियो" लिखा है। ५१वां नाम पं० पट्टावली में "देवपि" है तब फूलचन्दजी ने "देवचन्द्र" लिखा है। पं० पट्टावली में ५३वां नाम "महासेन" मिलता है तब फूलचन्दजी ने "महासिंह" लिखा है। पं० पट्टावली में ५४वां नाम

जयराज है तब फूलचन्दजी ने उस नम्बर के साथ "महासेन" लिखा है और "जयराज" को नम्बर ५५वां में लिया है, और पं० पट्टावली में ५५वें नंबर के साथ गजसेन का नाम लिखा है। पं० पट्टावली में ५६वां पट्टाघर "मिश्रसेन" बताया है, तब फूलचन्दजी ने इन्हीं को "मिश्रसेन" लिखा है और नम्बर ५७वां दिया है। पं० पट्टावली में ५७वां नाम "विजयसिंह" का है, तब फूलचन्दजी ने विजयसिंह को ५८वें नम्बर में रखा है। पं० पट्टावली में ५८-५९-६० नम्बर क्रमशः शिवराज, लालजीमल्ल, और ज्ञानजी यति को दिए हैं, तब फूलचन्दजी ने इन्हीं को ५९-६०-६१ नम्बर में रखा है।

उपर्युक्त नामों की तुलना से जाना जा सकता है कि पंजाबी साधु श्री फूलचन्दजी सूत्रों के पाठों के परिवर्तन में और नये नाम गढ़ने में सिद्ध-हस्त प्रतीत होते हैं। इन्होंने स्थविरों के नामों में ही नहीं आगमों के पाठों में भी अनेक परिवर्तन किये हैं और कई पाठ मूल में से हटा दिये हैं। इस हकीकत की जानकारी पाठकगण आगे दिये गए शीर्षकों को पढ़कर हासिल कर सकते हैं।

## जैन आगमों में काट-छांट :

लोकामत का प्रादुर्भाव विक्रम सं० १५०८ में हुआ था और इस मत में से १८वीं शती के प्रारम्भ में अर्थात् १७०९ में मुख पर मुहुपत्ति बांधने वाला स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला, इत्यादि बातों का विस्तृत वर्णन लोकायच्छ की पट्टावली में दिया जा चुका है। शाह लोका ने तथा उनके अनुयायी ऋषियों ने मूर्तिपूजा का विरोध अवश्य किया था, परन्तु जैन आगमों में काटछांट करने का साहस किसी ने नहीं किया था।

सर्वप्रथम सं० १८६५ में स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी ने "समकित्तसार" नामक ग्रन्थ लिखकर मूर्तिपूजा के समर्थन में जो आगमों के पाठ दिये थे उनकी समालोचना करके अर्थ-परिवर्तन द्वारा अपनी मान्यता

का बचाव करने की चेष्टा की, परन्तु मूल-सूत्रों में परिवर्तन अथवा कांट-छांट करने का कातर प्रयास किसी ने नहीं किया ।

उसके बाद स्थानकवासी साधु श्री अमोलकश्रद्धिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया । उस समय भी श्रद्धिजी ने कहीं-कहीं शब्द परिवर्तन के सिवा पाठों पर कटार नहीं चलाई थी ।

विक्रम की २१ वीं शती के प्रथम चरण में उन्होंने ३२ सूत्रों को 'सुत्तागमे' इस शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित करवाने वाले श्री पुष्प-भिक्षु ( श्री फूलचन्दजी ) ने उक्त पाठों को जो उनकी दृष्टि में प्रक्षिप्त थे निकालकर ३२ भागों का संशोधन किया है । उन्होंने जिन-जिन सूत्रों में से जो-जो पाठ निकाले हैं उनकी संक्षिप्त तालिका नीचे दी जाती है -

- (१) श्री भगवती सूत्र में से शतक २० । ३०६ । सू० ६८३ - ६८४ । भगवतीसूत्र शतक ३ । ३०२ में से ।  
भगवतीसूत्र के अन्दर जंघाचारण विद्याधारणों के सम्बन्ध में नन्दीश्वर मानुषोत्तर पर्वत तथा मेरु पर्वत पर जाकर चैत्यवन्दन करने के पाठ मूल में से उड़ा दिए गए हैं ।
- (२) ज्ञाताधर्म-कथांग में द्रौपदी के द्वारा की गई जिनपूजा सम्बन्धी सारा का सारा पाठ हटा दिया है ।
- (३) स्थानांग सूत्र में आने वाले नन्दीश्वर के चैत्यों का अधिकार हटाया गया है ।
- (४) उपासक-दशांग सूत्र के आनन्द श्रावकाध्ययन में से सम्यक्त्वोच्चारण का आलापक निकाल दिया है ।
- (५) विपाकश्रुत में से मृगारानी के पुत्र को देखने जाने के पहले मृगादेवी ने गौतम स्वामी को मुंहपत्ति से मुंह बांधने की सूचना करने वाला पाठ उड़ा दिया है ।
- (६) औपघातिक सूत्र का मूल पाठ जिसमें अम्बडपरिव्राजक के सम्यक्त्व उचरने का अधिकार था, वह हटा दिया गया है, क्योंकि उसमें

“अरिहन्तचैत्य” और “अन्य तीर्थिक परिगृहीत अरिहन्त चैत्यों” का प्रसंग आता था ।

- (७) राजप्ररनीय सूत्रों में सूर्याभदेव के विमान में रहे हुए सिद्धायतन में जिनप्रतिमाओं का वर्णन और सूर्याभदेव द्वारा किये हुए उन प्रतिमाओं के पूजन का वर्णन सम्पूर्ण हटा दिया है ।
- (८) जीवाभिगम सूत्र में किये गए विजयदेव की राजधानी के सिद्धायतन तथा जिनप्रतिमाओं का, नन्दीश्वर द्वीप के जिनचैत्यों का रुचक तथा कुण्डल द्वीप के जिनचैत्यों का, वर्णन निकाल दिया गया है । श्री जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देश में विरुद्ध जाने वाला जो पाठ था उसको हटा दिया है ।
- (९) इसी प्रकार जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में आने वाले सिद्धायतन कूटों में से “आयतन” शब्द को हटाकर “सिद्धकूट” ऐसा नाम रक्खा है ।
- (१०) वहार-सूत्र के प्रथम उद्देशक के ३७ वें सूत्र के द्वितीय भाग में आने वाले “भाविजिनचेइअ” शब्द को हटा दिया है ।

उपर्युक्त सभी पाठ स्थानकवासी साधु धर्मसिंहजी से लगाकर बीसवीं सदी के स्थानकवासी साधु श्री अमोलक ऋषिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया तब तक सूत्रों में विद्यमान थे ।

गतवर्ष सं० २०१६ के शीतकाल में जब हमने श्री पुष्पभिक्षू सम्पादित “सुत्तागमे” नामक जैनसूत्रों के दोनों अंश पढ़े तो ज्ञात हुआ कि सूत्रों के इस नवीन प्रकाशन में श्री फूलचन्दजी (पुष्पभिक्षू) ने बहुत ही बोलमाल किया है । सूत्रों के पाठ के पाठ निकालकर मूर्तिविरोधियों के लिए मार्ग निष्कृष्टक बनाया है । मैंने प्रस्तुत सूत्रों के सम्पादन में की गई काट-छांट के विषय में स्थानकवासी श्री जैनसंघ सहमत है या नहीं, यह जानने के लिए एक छोटा सा लेख तैयार कर “जनवाणी” कार्यालय जयपुर (राजस्थान) तथा चांदनी चौक देहली नं० ६ “जैनप्रकाश” कार्यालय को

एक-एक नकल प्रकाशनार्थ भेजी, परन्तु उक्त लेख स्थानकवासी एक भी पत्रकार ने नहीं छापा, तब इसकी नकल भावनगर के "जैन" पत्र के ऑफिस को भेजी और वह लेख जैन के "भगवान् महावीर-जन्म कल्याणक विशेषाङ्क" में छपकर प्रकट हुआ, हमारा वह संक्षिप्त लेख निम्नलिखित था।

## श्री स्थानकवासी जैनसंघ से प्रश्न :

पिछले लगभग अर्द्धशताब्दी खितने जीवन में अनेक विषयों पर गुजराती तथा हिन्दी भाषा में मैंने अनेक लेख तथा निबन्ध लिखे हैं, परन्तु श्री स्थानकवासी जैनसंघ को सम्बोधन करके लिखने का यह पहला ही प्रसंग है, इसका कारण है "श्री पुष्पभिक्षू" द्वारा संशोधित और सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक का अध्ययन।

पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन जैन साहित्य का स्वाध्याय करना मेरे लिए नियम सा हो गया है, इस नियम के फलस्वरूप मैंने "सुत्तागमे" के दोनों अंश पढ़े, पढ़ने से मेरे जीवन में कभी न होने वाला दुःख का अनुभव हुआ।

मेरा भुकाव इतिहास-संशोधन की तरफ होने से "श्री लौकागच्छ" तथा "श्री बाईस सम्प्रदाय" के इतिहास का भी मैंने पर्याप्त अवलोकन किया है। लौकाशाह के मत-प्रचार के बाद में लिखी गई अनेक हस्तलिखित पुस्तकों से इस सम्प्रदाय की पर्याप्त जानकारी भी प्राप्त की, फिर भी इस विषय में कलम चलाने का विचार कभी नहीं किया, क्योंकि संप्रदायों के आपसी संघर्ष का जो परिणाम निकलता है उसे मैं अच्छी तरह जानता था। लौकाशाह के मौलिक मन्तव्य क्या थे, उसको उनके अनुयायियों के द्वारा १६वीं शताब्दी के अन्त में लिखित एक अर्चा-ग्रन्थ को पढ़ कर मैं इस विषय में अच्छी तरह वाकिफ हो गया था। उस हस्तलिखित ग्रन्थ के बाद में बनी हुई अनेक इस गच्छ की पट्टावलियों तथा अन्य साहित्य का भी मेरे पास अच्छा संग्रह है। स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी द्वारा संद्वेष "समकितसार" और इसके उत्तर में श्री विजयानन्दसूरि-लिखित "सम्यक्त्व-

शतयोद्धार" पुस्तक तथा श्री प्रमोदकच्छपिजी द्वारा प्रकाशित ३२ सूत्रों में से भी कतिपय सूत्र पढ़े थे। यह सब होने पर भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरुद्ध लिखने की मेरी भावना नहीं हुई। यद्यपि कई स्थानकवासी विद्वानों ने अपने मत के बाधक होने वाले सूत्र-पाठों के कुछ शब्दों के अर्थ जरूर बदले थे, परन्तु सूत्रों में से बाधक पाठों को किसी ने हटाया नहीं था। लौकागच्छ को उत्पत्ति से लगभग पीने पांच सौ वर्षों के बाद श्री पुष्पभिक्षू तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उन बाधक पाठों पर सर्वप्रथम कंची चलाई है, यह जान कर मन में अपार ग्लानि हुई। मैं जानता था कि स्थानकवासी सम्प्रदाय के साथ मेरा सद्भाव है, वैसा ही बना रहेगा, परन्तु पुष्पभिक्षू के उक्त कार्य से मेरे दिल पर जो आघात पहुँचा है, वह सदा के लिए अमिट रहेगा।

भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, विपाकसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र आदि में जहां-जहां जिनप्रतिमा-पूजन, जिनचैत्यवन्दन, सिद्धायतन, मुँहपत्ति बांधने के विरुद्ध जो जो सूत्रपठ थे, उनका सफाया करके श्री भिक्षूजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय को निरापद बनाने के लिए एक अप्रामाणिक और कापुरुषोचित कार्य किया है, इसमें कोई शंका नहीं, परन्तु इस कार्य के सम्बन्ध में मैं यह जानना चाहता हूँ कि "सुतागमे" छपवाने में सहायता देने वाले गृहस्थ और सुतागमें पर अच्छी-अच्छी सम्मतियां प्रदान करने वाले विद्वान् मुनिवर्य मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने का कष्ट करेंगे कि इस कार्य में वे स्वयं सहमत हैं या नहीं ?

उपर्युक्त मेरा लेख छपने के बाद "अखिल भारत स्थानकवासी जैन कॉन्फेन्स" के माननीय मन्त्री और इस सस्था के गुजराती साप्ताहिक मुखपत्र "जैन-प्रकाश" के सम्पादक श्रीयुत् खीमचन्दभाई मगनलाल बोहरा द्वारा "जैन" पत्र के सम्पादक पर तारीख १-१-६२ को लिखे गये पत्र में सिखा था कि - "सुतागमें" पुस्तक श्री पुष्पभिक्षू महाराज का खानगी प्रकाशन है, जिसके साथ "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ" अथवा "अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कॉन्फेन्स" का कोई सम्बन्ध

गहीं है, सो जानिएगा । “इस पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध में श्रमणसंघ के अधिकारी मुनिराजों ने तथा कॉन्फेन्स ने श्री पुष्पभिक्षू महाराज के साथ पत्र व्यवहार भी किया है, इसके अतिरिक्त यह प्रश्न श्रमणसंघ के विचारणीय प्रश्नों पर रक्खा गया है और श्रमणसंघ के अधिकारी मुनिराज थोड़े समय में मिलेंगे तब इस पुस्तक प्रकाशन के विषय में आवश्यक निर्णय करने का सोचा है ।”

कुछ समय के बाद पत्र में लिखे मुजब ता० ७-६-६२ के “जैन-प्रकाश” में स्थानकवासी श्रमणसंघ की कार्यवाहक समिति ने “सुत्तागम” पुस्तक को अप्रमाणित ठहराने वाला नीचे लिखा प्रस्ताव सर्वानुमति से पास किया -

“मन्त्री श्री फूलचन्दजी महाराज ने “सुत्तागमे” नामक पुस्तक के प्रकाशन में आगमों में कतिपय मूल पाठ निकाल दिए हैं, वह योग्य नहीं । शास्त्र के मूल पाठों में कमी करने का किसी को अधिकार नहीं है, इसलिए “सुत्तागमे” नामक सूत्र के प्रस्तुत प्रकाशन को यह कार्यवाहक समिति अप्रमाणित उद्घोषित करती है ।”

उपर्युक्त स्थानकवासी श्रमणसंघ की समिति का प्रस्ताव प्रसिद्ध होने के बाद इस विषय में अधिक लिखना ठीक नहीं समझा और चर्चा वहीं स्थगित हो गई ।

पट्टावली के विषय में श्री पुष्पभिक्षू के “सुत्तागमे” नामक सूत्रों के प्रकाशन के सम्बन्ध में पुष्पभिक्षूजी द्वारा किये गये पाठ परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक समझ कर ऊपर निकाले हुए सूत्रपाठों की तालिका दी है । पुष्पभिक्षूजी का पुरुषार्थ इतना करके ही पूरा नहीं हुआ है, इन्होंने सूत्रों में से चैत्य शब्द को तो इस प्रकार लुप्त कर दिया है कि सारा प्रकाशन पढ़ लेने पर भी शायद ही एकाध जगह चैत्य शब्द दृष्टिगोचर हो जाये ।

१. उत्तराध्ययन-सूत्र के महानियंठिञ्ज नामक बीसवें अध्याय की दूसरी गाथा के चतुर्थ “अण्डि कुच्छिसिचेइए” इस चरण में “चैत्य” शब्द रहने पाया है, वह भी भिक्षूजी



भिवखूजी की चैत्य शब्द पर इतनी प्रब कृपा कैसे हुई यह समझ में नहीं आता, मन्दिर अथवा मूर्तिवाचक “चैत्य” शब्द को ही काट दिया होता तो बात और थी। पर आपने चुन-चुन कर “गुणशिलकचैत्य,” “पूर्णभद्रचैत्य,” और चौबीस तीर्थंशूरों के “चैत्यवृक्ष” आदि जो कोई भी चैत्यान्त शब्द सूत्रों में आया, उसको नेस्तनाबूद कर दिया। इनके पुरोगामी ऋषि जेठमलजी आदि “चैत्य” शब्द को “व्यन्तर का मन्दिर” मानकर इसको निभाते थे, उनके बाद के भी बीसवीं शती तक के स्थानकवासी लेखक “चैत्यशब्द” का कहीं ‘ज्ञान,’ कहीं ‘साधु,’ कहीं ‘व्यन्तर देव का मन्दिर’ मानकर सूत्रों में इन शब्दों को निभा रहे थे, परन्तु “श्री पुष्प-भिवखूजी” को मालूम हुआ कि इन शब्दों के अर्थ बदलकर चैत्यादि शब्द रहने देना यह एक प्रकार की लीपापोती है। “चैत्यशब्द” जब तक सूत्रों में बना रहेगा तब तक मूर्तिपूजा के विरोध में लड़ना झगड़ना बेकार है, यह सोचकर ही आपने “चैत्य” “आयतन” “जिनघर” “चैत्यवृक्ष” आदि शब्दों को निकालकर अपना मार्ग निष्कण्टक बनाया है। ठीक है, इनकी समझ से तो यह एक पुरुषार्थ किया है, परन्तु इस करतूत से इनके सूत्रों में जो नवीनता प्रविष्ट हुई है, उसका परिणाम भविष्य में ज्ञात होगा।

पुष्पभिवखूजी ने पूजा-विषयक सूत्र-पाठों, मन्दिरों और मूर्तिविषयक शब्दों को निकालकर यह सिद्ध किया है, कि इनके पूर्ववर्ती शाह लौका, धर्मसिंह, ऋषि जेठमलजी और श्री अमोलक ऋषिजी आदि शब्दों का अर्थ बदलकर मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे, वह गलत था।

## “चैत्य शब्द” का वास्तविक अर्थ :

भाजकल के कतिपय अदीर्घदर्शी विद्वान् “चैत्यशब्द” की प्रकृति “चित्ता” शब्द को मानते हैं और कहते हैं भरे मनुष्य को जहां पर जलाया

के प्रमाद से नहीं किन्तु निरुपायता से, क्योंकि “चेइए” इस शब्द के स्थान में रखने के लिए आपको दूसरा कोई रगणात्मक “चेइय” शब्द का पर्याय नहीं मिलने से चैत्य शब्द कायम रखना पड़ा और नीचे टिप्पण में “उज्जाणे” यह शब्द लिखना पड़ा।”

जाता था उस स्थान पर लोग खबूतरा आदि कुछ स्मारक बनाते थे, जो "चैत्य" कहलाता था। इस प्रकार "चिता" शब्द की निष्पत्ति बताने वाले विद्वान् व्याकरण-शास्त्र के अनजान भालूम होते हैं। "चिता" शब्द से "चैत्य" नहीं बनता पर "चैत" शब्द बनता है। आज से लगभग ३ हजार वर्ष पहले के वैदिक धर्म को मानने वाले सवर्ण भारतीय लोग अग्निपूजक थे, उन प्रत्येक के घरों में पवित्र अग्नि को रखने के तीन-तीन कुण्ड होते थे, उन कुण्डों में अग्नि की जो स्थापना होती थी उसको "अग्निचित्या" कहते थे। सैकड़ों वर्षों के बाद "अग्निचित्या" शब्द में से "अग्नि" शब्द तिरोहित होकर व्यवहार में केवल "चित्या" शब्द ही रह गया था। आज से लगभग २४०० वर्ष पहले के प्रसिद्ध वैयाकरण श्री पाणिनिऋषि ने अपने व्याकरण में व्यवहार में प्रचलित "चित्या" शब्द को ज्यों का त्यों रखकर उसको स्पष्ट करने वाला उसको पर्याय शब्द "अग्निचित्या" को उसके साथ जोड़कर "चित्याग्निचित्ये" ३।१॥३२, यह सूत्र बना डाला, इसी अग्निघनवाचक "चित्या" शब्द से "चैत्य" शब्द की निष्पत्ति हुई, जिसका अर्थ होता है - "पवित्र अग्नि, पवित्र देवस्थान, पवित्र देवमूर्ति और पवित्र वृक्ष" इन सब अर्थों में "चैत्य" शब्द प्रचलित हो गया और आज भी प्रचलित है।

जिनचैत्य का अर्थ - जिन का पवित्र स्थान अथवा जिन की पवित्र प्रतिमा, यह अर्थ आज भी कोशों से ज्ञात होता है। जिस वृक्ष के नीचे बैठकर जिन ने धर्मापदेश किया वह वृक्ष भी श्रीजिन चैत्य-वृक्ष कहलाने लगा और कोशकारों ने उसी के आधार से "चैत्य जिनोऋस्तद्बिम्बं, चैत्यो जिनसमातरः" इस प्रकार अपने कोशों में स्थान दिया।

कीटिल्य अर्थशास्त्र जो लगभग २३०० वर्ष पहले का राजकीय न्याय-शास्त्र है, उसमें भी अमुक वृक्षों को "चैत्यवृक्ष" माना है और उन पवित्र वृक्षों के काटने वालों तथा उसके आस-पास गन्दगी करने वालों के लिए दण्डविधान किया है। "नगर के निकटवर्ती भूमि-भागों को देव-ताम्रों के नामों पर छोड़कर उनमें अमुक देवों के मन्दिर बना दिये जाते थे और उन भूमि-भागों के नाम उन्हीं देवों के नाम से प्रसिद्ध होते थे। जैसे -

राजगृह नगर के ईशानदिक्कोण में “गुणशिलक” नामदेव का स्थान होने से वह सारा भूमिभाग “गुणशिलक चैत्य” कहलाता था। इसी प्रकार चम्पा-नगरों के ईशान दिशा-भाग में “पूर्णाभद्र” नामक देव का स्थान था जो “पूर्णाभद्र चैत्य” के नाम से प्रसिद्ध हो गया था और उस सारे भूमिभाग को देवता-अधिष्ठित मानकर उस स्थान की लकड़ी तक लोग नहीं काटते थे।

इसी प्रकार प्राचीनकाल के ग्रामों, नगरों के बाहर तत्कालीन भिन्न-भिन्न देवों के नामों से भूमि-भाग छोड़ दिए जाते थे और वहाँ उन देवों के स्थान बनाए जाते थे, जो चैत्य कहलाते थे। आजकल भी कई गांवों के बाहर इस प्रकार के भूमिभाग छोड़े हुए विद्यमान हैं। आजकल इन मुक्त भूमिभागों को लोग “उण” अर्थात् “उपवन” इन नाम से पहिचानते हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से पाठकगण समझ सकेंगे कि “चैत्यशब्द” “साधुवाचक” अथवा “ज्ञानवाचक” न कभी था न आज ही है। क्योंकि चैत्य शब्द की उत्पत्ति पूजनीय अग्निचयन वाचक “चित्या” शब्द से हुई है, न कि “चिता” शब्द से अथवा “चिति संज्ञाने” इस घातु से। इस प्रकृतियों से “चैत” “चित्त” “चैतस्” शब्द बन सकते हैं, “चैत्य-शब्द” नहीं। श्री पुष्पभिक्षु की समझ में यह बात आ गई कि शब्दों का अर्थ बदलने से कोई मतलब हल नहीं हो सकता। पूजनीय पदार्थ-वाचक “चैत्य” शब्द को सूत्रों में से हटाने से ही अमूर्तिपूजकों का मार्ग निष्कण्टक हो सकेगा।

श्री पुष्पभिक्षु अपने प्रकाशन के प्रथम अंश के प्रारम्भ में “सूचना” इस शीर्षक के नीचे लिखते हैं—

“यह प्रकाशन मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य साधुकुल-शिरोमणि १०८ श्री-फकीरचन्दजीमहाराज (स्वर्गीय) के धारणा-व्यवहारानुसार है।”

पुष्पभिक्षुजी की इस सूचना में “धारणा-व्यवहार” शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है यह तो प्रयोक्ता ही जाने, क्योंकि “धारणा-व्यवहार” शब्द प्रायश्चित्त विषयक पांच प्रकार के व्यवहारों में से एक का वाचक है।

शास्त्र के प्रकाशन में प्रायश्चित्त संबन्धी व्यवहार का कोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी आपने इसका प्रयोग किया है। यदि “हमारे गुरु की धारणा यह थी कि चैत्यादि-वाचक शब्द-विशिष्ट पाठों को निकालकर सूत्रों का सम्पादन करना” यह धारणा व्यवहार के अर्थ में अभिप्रेत है तो जिनके विशेषणों से पौने दो पृष्ठ भरे है वे विशेषण अपार्थक हैं और यदि वे लेखक के कथनानुसार विद्वान् और गुणी थे तो सम्पादक ने उनकी ‘धारणा’ का नाम देकर अपना बोझा हल्का किया है; क्योंकि गुणी और जिनवचन पर श्रद्धा रखने वाला मनुष्य जेनागमों में काट-छाँट करने को सलाह कभी नहीं दे सकता। श्री भिक्खूजी के सम्पादन में सूत्रों की काफी काटछाँट हुई है, इसकी जवाबदारी पुष्पभिक्खूजी अपने गुरुजी पर रखे या स्वयं जवाबदार रहें इस सम्बन्ध में हमको कोई सारांश निकालना नहीं है। पुष्पभिक्खूजी के समानधर्मी श्रमणसमिति ने इस प्रकाशन को अप्रमाणित जाहिर किया, इससे इतना तो हर कोई मानेगा कि यह काम भिक्षुजी ने अच्छा नहीं किया।

पुष्पभिक्खूजी ने अपने प्रस्तुत कार्य में सहायक होने के नाते अपने शिष्य श्री जिनचन्द्र भिक्खू की अपने वक्तव्य में जो सराहना की है उसका मूल आधार निम्नलिखित गाथा है -

“दो पुरिसे धरइ घरा, अहवा दोहिवि धारिमा धरणी ।

उवयारे जस्स मई, उवयरिअं जो न फुंसेई ॥”

अर्थात्;— पृथ्वी अपने ऊपर दो प्रकार के पुरुषों को धारण करती है उपकार बुद्धि वाले उपकारक को और उपकार को न भूलने वाले “कृतज्ञ” को अथवा दो प्रकार के पुरुषों से पृथ्वी धारण की हुई है। एक उपकारक पुरुष से और दूसरे उपकार को न भूलने वाले कृतज्ञ पुरुष से।

उपर्युक्त सुभाषित को गुरु-शिष्यों के पारस्परिक सहकार को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त करना शिष्टसम्मत है, या नहीं, इसका निर्णय हम शिष्ट वाचकों पर छोड़ते हैं।

श्री पुष्पभिक्षू; सुमित्तभिक्षू और जिषचन्दभिक्षू यह त्रितय "सुतागमे" के सम्पादन में एक दूसरे का सहकारी होने से आगे हम इनका उल्लेख "भिक्षुत्रितय" के नाम से करेंगे ।

पुस्तक की प्रस्तावना में "भागमों की भाषा" नामक शीर्षक के नीचे लिखा है -

"देवद्विगण क्षमाश्रमण ने भागमों को लिपिवद्ध किया, इतने समय के बाद लिखे जाने पर भी भाषा की प्राचीनता में कमी नहीं आई ।"

देवद्विगण क्षमाश्रमण के समय में भाषा की प्राचीनता में कमी नहीं आई, यह कहने वाले भिक्षुत्रितय को प्रथम प्राचीन और अर्वाचीन अर्द्धमागधी भाषा में क्या अन्तर है, यह समझ लेना चाहिए था । भागमों में आचारांग और सूत्रकृतांग हैं और भागमों में विपाक और प्रश्न व्याकरण भी हैं, इन सूत्रों की भाषाओं का भी पारस्परिक अन्तर समझ लिया होता तो वे "प्राचीनता में कमी नहीं हुई" यह कहने का साहस नहीं करते ।

आचारांग तथा सूत्रकृतांग सूत्र आज भी अपने उसी मूल रूप में वर्तमान हैं, जो रूप उनके लिखे जाने के मौर्य-समय में था । इनके आगे के स्थानांग आदि सभी अंग सूत्रों में भिन्न-भिन्न वाचनाओं के समय में थोड़ा थोड़ा परिवर्तन और संक्षेप होता रहा है । स्थानांग आदि नव अंग सूत्रों में दूसरी वाचना के समय में स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता में सूत्रों का जो स्वरूप निर्धारित हुआ था, वह आज तक टिका हुआ है । देवद्विगण क्षमाश्रमण के समय में जो पुस्तकालेखन हुआ उसमें मुख्यता माथुरी और वालभी वाचनानुगत सूत्रों में चलते हुए पाठान्तरों का समन्वय करने की प्रवृत्ति की थी । देवद्विगण ने तत्कालीन दोनों वाचनानुयायी श्रमणसंघों की सम्मति से सूत्रों का समन्वय किया था, तत्कालीन प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, जैसे अंगुष्ठप्रश्नादि, बाहु-प्रश्नादि, आदर्श-प्रश्नादि के उत्तरों का निरूपण था । इनके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक विचित्र विद्याओं के अतिशय वे उनको तिरोहित करके वर्तमानकालीन

पंचसंवर-पंचाश्रवमय प्रश्नव्याकरण बनाया और प्राचीन प्रश्न-व्याकरण के स्थान में रखा। भाषा की प्राचीनता अर्वाचीनता की मीमांसा करने वाला भिक्षुत्रितय यह बताएगा कि आचारांग, सूत्रकृतांग की भाषा में और प्रागे के नव अंगसूत्रों की भाषा में क्या अन्तर पड़ा है, और उनमें प्रयुक्त शब्दों तथा वाक्यों में कितना परिवर्तन हुआ है ?

अंग्रेज विचारकों के अनुयायी बनकर जैन-आगमों की भाषा को महाराष्ट्रीय प्राकृत के अक्षर बाली मानने के पहले उन्हें देशकाल-सम्बन्धी इतिहास जान लेना आवश्यक था। डा० हार्नले जैसे अंग्रेजों की अपूर्ण शोध के रिपोर्टों को महत्त्व देकर जैन मुनियों के दक्षिण-देश में जाने की बात जो दिगम्बर भट्टारकों की कल्पनामात्र है, सच्ची मानकर जैन-आगमों में दक्षिणात्य प्राकृत का अक्षर मानना निराधार है। न तो मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में जैनश्रमण दक्षिण प्रदेश में गए थे, न उसकी अर्द्धमागधी सीत्र भाषा में दक्षिण-भाषा का अक्षर हुआ था। जो दिगम्बर विद्वान् कुछ वर्षों पहले श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी के चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण में जाने की बात करते थे वे सभी आज मानने लगे हैं कि दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दूसरे थे, श्रुतधर भद्रबाहु और मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त नहीं, क्योंकि दिगम्बरों के ग्रन्थों में भद्रबाहु का और चन्द्रगुप्त का दक्षिण में जाना उज्जैनी नगरी से बताया है, और उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी में अनुमानित किया है। आज तो डा० ज्योतिप्रसाद जैन जैसे शायद ही कोई प्रति-श्रद्धालु दिगम्बर विद्वान् श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में जाने की बात कहने वाले मिलेंगे। अणबेलगोल आदि दिगम्बरों के प्राचीन तीर्थों के शिलालेखों के प्रकाशित होने के बाद अब विद्वानों ने यह मान लिया है कि दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं किन्तु दूसरे ज्योतिषी-भद्रबाहु हो सकते हैं। इसका कारण उनके प्राचीन तीर्थों में से जो शिलालेख मिले हैं वे सभी शक की आठवीं शती और उसके बाद के हैं। हमारी खुद की मान्यता के अनुसार तो अधिक दिगम्बर साधुओं के दक्षिण में जाने सम्बन्धी दंतकथाएं सही हों, तो भी इनका समय विक्रम की छठी शती के पहले का नहीं हो सकता। दिगम्बर-सम्प्रदाय की ग्रंथप्रशस्तियों तथा पट्टावलियों में

जो प्राचीनता का प्रतिपादन किया गया है, वह विश्वासपात्र नहीं है। इस स्थिति में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मान्य आगमों पर दक्षिणात्य प्राकृत-भाषा का प्रभाव बताना कोई अर्थ नहीं रखता।

“सुत्तागमे” के प्रथम अंश की प्रस्तावना के १४ वें पृष्ठ की पादटीका में लेखक कहते हैं —

“इतना और स्मरण रहे कि इससे पहले पाटलीपुत्र का सम्मेलन और नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में माथुरी-वाचना हो चुकी थी।”

लेखकों का नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में माथुरीवाचना बताना प्रमादपूर्ण है, माथुरी-वाचना नागार्जुन वाचक के तत्त्वावधान में नहीं किन्तु आचार्य स्कन्दिल की प्रमुखता में मथुरा नगरी में हुई थी; इसलिये यह वाचना “माथुरी” तथा “स्कन्दिली” नामों से भी पहचानी जाती है।

एक आगम के नाम का निर्देश दूसरे में होने के सम्बन्ध में भिक्षु-त्रितय समाधान करता है — कि यह आगमों की प्राचीन शैली है। भिक्षुत्रय का यह कथन यथार्थ नहीं, भगवान् महावीर के गणधरों ने जब द्वादशांगी की रचना की थी, उस समय यह पद्धति अस्तित्व में नहीं थी। पूर्वाचार्यों ने नाश के भय से जब आगमों को संक्षिप्त रूप से व्यवस्थित किया, तब उन्होंने सुगमता के खातिर यह शैली अपनाई है, और जिस विषय का एक अंग अथवा उपांगसूत्र में विस्तार से वर्णन कर देते थे। उसको दूसरे में कट करके विस्तृत वर्णन वाले सूत्र का निर्देश कर देते थे। अंगसूत्रों में “पञ्चवणा” आदि उपांगों के नाम आते हैं उसका यही कारण है।

## जैन-साहित्य पर नई-नई आपत्तियाँ :

उपर्युक्त प्रस्तावनागत शीर्षक के नीचे भिक्षुत्रितय एक नया आविष्कार प्रकाश में लाता हुआ कहता है — “जिस काल में जैनों और बौद्धों के साथ हिन्दुओं का महान् सघर्ष था उस समय धर्म के नाम पर बड़े से

वहें प्रत्याचार हुए। उस अन्वह में साहित्य को भी भारी घक्का लगा, फिर भी जैन समाज का शुभ उदय या प्रागमों का माहात्म्य समझो कि जिससे प्रागम बाल-बाल बचे और सुरक्षित रहे।”

भिक्षुत्रितय की उपर्युक्त कल्पना उसके फलद्रूप भेजे की है। इतिहास इसकी साक्षी नहीं देता कि बौद्ध और जैनों के साथ हिन्दुओं का कभी साहित्यिक संघर्ष हुआ हो। साहित्यिक संघर्ष की तो बात ही नहीं, किन्तु धार्मिक असहिष्णुता ने भी बौद्ध और जैनों के साथ हिन्दुओं को संघर्ष में नहीं उतारा। किसी प्रदेश विशेष में राज्यसत्ताधारी अर्म्न्व व्यक्त-विशेष ने कहीं पर बौद्ध जैन प्रथवा दोनों पर किसी अंश तक ज्यादाती की होगी तो उसका अपयश हिन्दू समाज पर थोपा नहीं जा सकता और उससे जैन-साहित्य को हानि होने की तो कल्पना ही कैसे हो सकती है। इस प्रकार की देश-स्थिति जैन-साहित्य को हानिकर मुसलमानों के भारत पर आक्रमण के समय में अवश्य हुई थी, परन्तु उससे केवल जैनों का ही नहीं, हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि सभी भारतीय सम्प्रदायों को हुई थी। आगे भिक्षुत्रितय अपनी मानसिक खरी भावनाओं को प्रकट करता हुआ कहता है -

“इसके अनन्तर चैत्यवासियों का युग आया। उन्होंने चैत्यवास का जोर-शोर से आन्दोलन किया और अपनी मान्यता को मजबूत करने के लिए नई-नई बातें घड़नी शुरू कीं, जैसे कि अंगूठे जितनी प्रतिमा बनवा देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो पशु मन्दिर की ईंटें ढोते हैं वे देवलोक जाते हैं आदि-आदि। वे यहीं तक नहीं रुके, बल्कि उन्होंने प्रागमों में भी अनेक बनावटी पाठ घुसेड़ जिये। जिस प्रकार रामायण में क्षेपकों की भरमार है, उसी प्रकार प्रागमों में भी।”

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियों के युग की बात कहता है, तब हमको आश्चर्य के साथ हंसी आती है। युग किसे कहते हैं और “चैत्यवास” का अर्थ क्या है? इन बातों को समझ लेने के बाद भिक्षुत्रितय ने इस विषय में कलम चलाई होती, तो वह हास्यास्पद नहीं बनता।



“चैत्यवास” यह कोई नई संस्था नहीं है और चैत्यों में रहना भी वजित नहीं है। मौर्यकाल और नन्दकाल से ही पहाड़ों की चट्टानों पर “लेण” बनते थे जिसका संस्कृत अर्थ “लयन” होता था, ये स्थान बनाने वाले राजा, महाराजा और सेठ साहूकार होते थे और मेलों उत्सवों के समय में इनका उपयोग होता था, शेषकाल में उनमें साधु सन्यासी ठहरा करते थे, “लयन” बनाने वाला धनिक जिसधर्म की तरफ श्रद्धा रखने वाला होता, उस धर्म के प्रवर्तक देवों और उपदेशक श्रमणों की मूर्तियां भी उन्हीं पत्थरों में से खुदवा लेता था, जिससे कि उनमें ठहरने वाले श्रमण लोग उनको लक्ष्य करके ध्यान करते, आज भी इसी प्रकार के लयन उड़ीसा के खण्डगिरि आदि पर्वतों में और एजप्टा, गिरनार आदि के चट्टानों में खुदी हुई गुफाओं के रूप में विद्यमान हैं। संकड़ों लोग उनको देखने जाते हैं, खोदी हुई मूर्तियों से सुषोभित इस प्रकार के लयनों को भिक्षुत्रितय “चैत्य” कहे चाहे अपनी इच्छानुसार दूसरा नाम कहे, वास्तव में इस प्रकार के स्थान “चैत्यालय” ही कहलाते थे और उनमें निस्संग और त्वागी श्रमण रहा कहते थे, खास कर वर्षा के समय में श्रमण लोग उनका आश्रय लेते थे जिनको बड़े-बड़े राजा महाराजा पूज्य दृष्टि से देखते और उनकी पूजा करते थे। धीरे-धीरे समय निर्बल आया, मनुष्यों के शक्ति-संहनन निर्बल हो चले, परिणामस्वरूप विक्रम की दूसरी शती के निकट समय में श्रमणगण ग्रामों के परिसरों में बसने लगे, जब उनकी संख्या अधिक बढ़ी और परिसरों में इस प्रकार के ठहरने के स्थान दुर्लभ हो चले, तब धीरे-धीरे श्रमणों ने गांवों के अन्दर गृहस्थों के अव्यापृत मकानों में ठहरना शुरु किया, पर इस प्रकार के मकानों में भी जब उनका निर्वाह नहीं होने लगा तब गृहस्थों ने सामूहिक धार्मिक क्रिया करने के लिए स्वतंत्र मकान बनवाने का प्रारम्भ किया। उन मकानों में वे सामायिक प्रतिक्रमण, पोषध आदि धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए जाने लगे, पोषध क्रिया के कारण ये स्थान “पोषधशाला” के नाम से प्रसिद्ध हुए, यह समय विक्रम की आठवीं शती का था।

साधुओं के उपदेश के सम्बन्ध में भिक्षुत्रितय का कथन अतिरंजित है, उपदेश के रूप में गृहस्थों के भागे उनके कर्तव्य का उपदेश करना उपदेशकों

का कर्तव्य है और इसी रूप में सुविहित गीतार्थ साधु जैन गृहस्थों को उनके अन्यान्य कर्तव्यों के उपदेश के प्रसंग में दर्शन-शुद्धयर्थं जिनमक्ति का भी उपदेश करते थे और करते हैं। प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्रसूरि के प्रतिष्ठा पंचाशक और षोडशक आदि में इसी प्रकार के निरवद्य उपदेश दिये गये हैं। अर्वाचीनकाल में अंगुष्ठ मात्र त्रिनप्रतिमा के निर्माण से स्वर्गप्राप्ति का किसी ने लिखा होगा तो वह भी धार्मिक वचन नहीं है, किसी भी धार्मिक अनुष्ठान के करने में कर्ता का मानसिक उल्लास उनके फल में विशिष्टता उत्पन्न कर सकता है इसमें कोई असम्भव की बात नहीं, दो तीन घंटे तक मुंह बंधवाकर स्थानक में जैनों अजैनों को बिठाना और वाद में उनको मिष्टान्न खिलाकर रवाना करना इस प्रकार दयापल बानेके धार्मिक अनुष्ठान से तो भावि शुभ फल की आशा से मन्दिर तथा मूर्तियां का निर्माण करवाना और उनमें जिनदेव की कल्पना कर पूजा करना हजार दर्जे अच्छा है।

भिक्षुत्रितय ने उपर्युक्त फिकरे में आगमों में बनावटी पाठ घुसेड़ देने की बात कही है, वह भी उनके हृदय की भावना को व्यक्त करती है, यों तो हर एक आदमी कह सकता है कि अमुक ग्रन्थ में अमुक पाठ प्रक्षिप्त है, परन्तु प्रक्षिप्त कहने मात्र से वह प्रक्षिप्त नहीं हो सकता, किन्तु पुष्ट प्रमाणों से उस कथन का समर्थन करने से ही विद्वान् लोग उस कथन को सत्य मानते हैं। संपादक ने बनावटी पाठ घुसेड़ने की बात तो कह दी पर इस कथन पर किसी प्रमाण का उपन्यास नहीं किया। अतः यह कथन भी अरण्यरोदन से अधिक महत्त्व नहीं रखता, आगमों में बनावटी पाठ घुसेड़ने और उसमें से सच्चे पाठों को निकालना यह तो भिक्षुत्रितय के घर की रीति परम्परा से चली आ रही है। इनके आदि मार्गदर्शक शाह लूका ने जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, दान, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, साधार्मिक, वात्सल्य आदि अनेक आगमोक्त धार्मिक कर्तव्यों का उच्छेद कर दिया था। और इन कार्यों का उपदेश करने वालों की निन्दा करने में अपना समय बिताया था, परन्तु इनके मन्तव्यों का प्रचार करने वाले वेश-धारी शिष्यों ने देखा कि लूका के इस उपदेश का प्रचार करने से तो सुनने

वाला अपने पास तक नहीं फटकेगा, न अपनी पेटपूजा ही सुख से होगी, इस कारण से लौका के वेशधारी शिष्यों ने प्रतिमापूजा के विरोध के प्रतिरिक्त शेष सभी लौका के उपदेशों को अपने प्रचार में से निकाल दिया, इतना ही नहीं, कतिपय बातें तो लौका के मन्तव्यों का विरोध करने वाली भी प्रचलित कर दीं ।

भिक्षुत्रितय ने जिन 'सूत्रपाठों' को मूल में से हटा दिया है, उनको बनावटी कहकर अपना बचाव करते हैं । 'गणधरों की रचना को ही ये भागम मानकर दूसरे पाठों को बनावटी मानते हैं, तब तो इनको मूल भागमों में से अभी बहुत पाठ निकालना शेष है । स्थाबांग सूत्र और औपपातिक सूत्र में सात निन्हवों के नाम संनिहित हैं, जो पिछला प्रक्षेप है, क्योंकि अन्तिम निन्हव गोष्ठामाहिल भगवान् महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष बीतने पर हुआ था, इसी प्रकार नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार में कौटिल्य, कनकसप्तति, वैशेषिकदर्शन, बुद्धवचन, त्रैशिकमत, षष्ठितन्त्र, माठर, भागवत, पातञ्जल, योगशास्त्र आदि अनेक अर्वाचीनमत और ग्रन्थों के नामों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनका अस्तित्व ही गणधरों द्वारा की गई भागम-रचना के समय में नहीं था, इनको प्रक्षिप्त मानकर भिक्षुत्रितय ने भागमों में से क्यों नहीं निकाला, यह समझ में नहीं आता । प्रक्षिप्त पाठ मानकर ही भागमों में से पाठों को दूर करना था तो सर्वप्रथम उपर्युक्त पाठों का निकालना आवश्यक था, अथवा तो अर्वाचीन पाठ वाले भागमों को अप्रमाणिक घोषित करना था सो तो नहीं किया, केवल "चैत्यादि के पाठों को सूत्रों में से हटाए," इससे सिद्ध है कि बनावटी कहकर चैत्य-सम्बन्धी पाठों को हटाने की अपनी जबाबदारी कम करने की चाल मात्र है ।

गणधर तीर्थङ्करों के उपदेशों को शब्दात्मक रचना में व्यवस्थित करके मूल भागम बनाते हैं और उन भागमों को अपने शिष्यों को पढ़ाते समय गणधर और अनुयोगधर चार प्रकार के व्याख्यानांगों से विभूषित कर पंचांगी के रूप में व्यवस्थित करते हैं । भागमों की पंचांगी के नाम ये हैं - १ सूत्र, अर्थ २, ग्रन्थ ३, निर्युक्ति ४ और ५ संग्रहणी । आज भी

यह पंचांगी तीर्थंकर भाषित भाग्यों का खरा अर्थ बता सकती है। मूल सूत्र के ऊपर उसी भाषा में अथवा तो संस्कृत आदि अन्य भाषाओं द्वारा सूत्रों का जो भाव स्पष्ट किया जाता है, उसको संक्षेप में “अर्थ” कहते हैं। सूत्र का अर्थ ही पद्यों में स्वकर प्रकरणों द्वारा समझाया जाता है उसको “ग्रन्थ” कहते हैं, सूत्रों में प्रकट रूप से नहीं बंधे हुए और लक्षणा-व्यंजनाओं से उपस्थित होने वाले अर्थों को लेकर सूत्रोक्त-विषयों का जो शंका-समाधान-पूर्वक ऊहापोह करने वाला गाथात्मक निबन्ध होता है वह “निर्युक्ति” नाम से व्यवहृत होता है, तथा सूत्रोक्त विषयों को सुगमतापूर्वक याद करने के लिए अष्टयाय, शतक, उद्देशक आदि प्रकरणों की आदि में उनमें वर्णित विषयों का सूचित करने वाली गाथाओं का संग्रह बनाया जाता था, उसको “संग्रहणी” के नाम से पहिचानते हैं।

आजकल सूत्रों पर जो प्राकृत चूर्णियां, संस्कृत टीकाएं आदि व्याख्याएं हैं, इनको प्राचीन परिभाषा के अनुसार “अर्थ” कह सकते हैं। सूत्र तथा अर्थ में व्यक्त किये गये विषयों को लेकर प्राचीनकाल में गाथाबद्ध निर्मित भाष्यों को भी प्राचीन परिभाषा के अनुसार “ग्रन्थ” कहना चाहिए। भद्रबाहु आदि अनेक श्रुतधरों ने आवश्यक, दशवैकालिक आदि सूत्रों के ऊपर तर्कशैली से गाथाबद्ध निबन्ध लिखे हैं, उन्हें आज भी “निर्युक्ति” कहा जाता है। “भगवती”, “प्रज्ञापना” आदि के कतिपय अष्टयायों की आदि में अष्टयायोक्त विषय का सूचन करने वाली गाथाएं दृष्टिगोचर होती हैं इनका पारिभाषिक नाम “संग्रहणी” है। भगवती-सूत्र के प्रथम शतक के प्रारम्भ में ऐसी संग्रहणी गाथा आई तब भिक्षु महोदय ने पुस्तक के नीचे पाद-टीका के रूप में उसे छोटे टाइपों में लिखा, परन्तु बाद में भिक्षु महोदय की समझ ठिकाने आई और भागे की तमाम संग्रहणी गाथाएं मूल सूत्र के साथ ही रक्कीं। सम्प्रदायानभिज्ञ व्यक्ति अपनी समझ से प्राचीन साहित्य में संशोधन करते हुए किस प्रकार सत्यमांग को भूलते हैं, इस बात का भिक्षु महोदय ने एक उदाहरण उपस्थित किया है।

भिक्षुत्रितय भागे लिखता है - “इसके बाद युग ने करवट बदली और उसी कटाकटी के समय धर्मप्राण लौकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुष

प्रकट हुए। उन्होंने जनता को सन्मार्ग, सुकृपा और उस पर चलने की प्रेरणा दो × × × जिससे लोभों में क्रान्ति और जागृति उत्पन्न हुई तथा लवजी, घमंशी, घमंदासजी, जीवराजजी जैसे भव्य भावुकों ने घम की वास्तविकता को प्रपनाया और उसके स्वरूप का प्रचार प्रारम्भ किया; परिणामस्वरूप आज भी उनकी प्रेरणाओं को जीवित रखने वालों की संख्या ५ लाख से कहीं अधिक पाई जाती है। लोकाशाह सहित इन चारों महापुरुषों ने "चैत्यवासी मान्य अन्य भागमों में परस्पर विरोध एवं मन-घड़न्त बातें देखकर ३२ भागमों को ही मान्य किया।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासी युग के बाद लोकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुषों के उत्पन्न होने की बात कहता है, जो अज्ञानसूचक है, क्योंकि विक्रम की चौथी शती से ग्यारहवीं शती तक शिथिलाचारी साधुओं का प्राबल्य ही चुका था। फिर भी वह उनका युग नहीं था। हम उसे उनकी बहुलता वाला युग कह सकते हैं, क्योंकि उस समय भी उद्यतविहारी साधुओं की भी संख्या पर्याप्त प्रमाण में थी। शिथिलाचारी संख्या में अधिक होते हुए भी उद्यतविहारी संघ में अग्रगामी थे। स्नानमह, प्रथमसम्बवसरण आदि प्रसंगों पर होने वाले श्रमण-सम्मेलनों में प्रमुखता उद्यतविहारियों की रहती थी। कई प्रसंगों पर वैहारिक श्रमणों द्वारा पार्श्वस्यादि शिथिलाचारी फटकारे भी जाते थे, तथापि उनमें का अधिकांश शिथिलता की निम्न सतह तक पहुंच गया था और धीरे-धीरे उनकी संख्या कम होती जाती थी। विक्रम की ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध तक शिथिलाचारी धीरे-धीरे नियतवासी हो चुके थे और समाज के ऊपर से उनका प्रभाव पर्याप्त रूप से हट चुका था। भले ही वे जातिगत गुरुओं के रूप में अमुक जातियों और कुलों से अपना सम्बन्ध बनाए हुए हों, परन्तु संघ पर से उनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में मिट चुका था, इसी के परिणाम स्वरूप १२ वीं शती के मध्यभाग तक जैनसंघ में अनेक नये वच्छ उत्पन्न होने लगे थे। पौर्णमिक, आंचलिक, खरतर, साधुपौर्णमिक और घागमिक गच्छ ये सभी १२ वीं और १३ वीं शती में उत्पन्न हुए थे और इसका कारण शिथिलाचारी चैत्यवासी कहलाने वाले साधुओं की कमजोरी थी। यद्यपि उस समय में भी वर्तमान-

सूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभगणि, मुनिचन्द्रसूरि, धनेश्वरसूरि, जगचन्द्र-सूरि आदि अनेक उद्यतविहारी आचार्य और उनके शिष्य परिवार अप्रतिषेद्ध विहार से विचरते थे, तथापि एक के बाद एक नये सुधारक गच्छों की सृष्टि से जैनसंघ में जो पूर्वकालीन संघटन चला आ रहा था वह विशूल हो गया। इसी के परिणाम-स्वरूप शाहलौका शाह कडुआ आदि गृहस्थों को अपने पन्थ स्थापित करने का अवसर मिला था, न कि उनके खुद के पुरुषार्थ से। उपर्युक्त जैनसंघ की परिस्थिति का वर्णन पढ़कर विचारक समझ सकेंगे कि श्रमणसमुदाय में से अधिकांश शिथिलाचार के कारण निर्वल हो जाने से सुधारकों को नये गच्छ और गृहस्थों को श्रमणगण के विरुद्ध अपनी मान्यताओं को व्यापक बनाने का सुअवसर मिला था, किसी भी संस्था या समाज को बनाने में कठिन से कठिन पुरुषार्थ और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है, न कि नष्ट करने में। समाज की कमजोरी का लाभ उठाकर क्रियोद्धार के नाम से नव गच्छसंज्ञकों ने तो अपने बाड़े मजबूत किये ही, पर इस अव्यवस्थित स्थिति को देखकर कतिपय श्रमणसंस्था के विरोधी गृहस्थों ने भी अपने-अपने अखाड़े खड़े किये और आपस के विरोधों और शिथिलाचारों से बलहीन बनी हुई श्रमणसंस्था का ध्वंस करने का कार्य शुरू किया। लौका तथा उसके अनुयायी मन्दिर तथा मूर्तियों की पूजा की प्रतिप्रवृत्तियों का उदाहरण दे देकर गृहस्थवर्ग को साधुओं से विरुद्ध बना रहे थे। कडुवा जैसे गृहस्थ मूर्तिपूजा के पक्षपाती होते हुए भी साधुओं के शिथिलाचार की बातों को महत्त्व दे देकर उनसे असहकार करने लगे, चीज बनाने में जो शक्ति व्यय करनी पड़ती है वह विगाड़ने में नहीं। लौकाशाह तथा उनके वेशधारी चले हिंसा के विरोध में और दया के पक्ष में बनाई गई, चौपाइयों के पुलिन्दे खोल-खोलकर लोगों को सुनाते और कहते - "देखो भगवान् ने दया में धर्म बताया है, तब आजकल के यति स्वयं तो अपना आचार पालते नहीं और दूसरों को मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का उपदेश करके पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के जीवों की हिंसा करवाते हैं, बोलो - धर्म दया, में कि हिंसा में? उत्तर मिलता दया में," तब लौका के चले कहते - "जब धर्म दया में है तो हिंसा को छोड़ो और दया पालो" अनपढ़ लोग, लौका के अनपढ़ अनुयायियों की इस प्रकार की बातों से भ्रमित

होकर पूजा, दर्शन आदि जो श्रमसाध्य कार्य थे, उन्हें छोड़ छोड़कर लौका के अनुयायी बन गये, इसमें लौका और इनके अनुयायियों की बहादुरी नहीं, विघ्नसंक पद्धति का ही यह प्रभाव है, मनुष्य को उठाकर ऊचे ले जाना पुरुषार्थ का काम है, ऊपर खड़े पुरुष को घक्का देकर नीचे निराना पुरुषार्थ नहीं कायरता है, जेनों में से ही पूजा आदि की श्रद्धा हटाकर शाह लौका, लवजी, रूपजी, धर्मसिंह आदि ने अपना बाडा बढाया, यह वस्तु प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती, इनकी प्रशंसा तो हम तब करते जब कि ये अपने त्याग और पुरुषार्थ से आकृष्ट करके जैनेतरों को जैनधर्म की तरफ खींचते और शिथिलाचार में डूबने वाले तत्कालीन यतियों को अपने आदर्श और प्रेरणा से शिथिलाचार से ऊंचा उठाने को बाध्य करते ।

मिक्षुत्रितय चैत्यवासियों द्वारा लौका आदि को कष्ट दिये जाने की बात कहता है, इसके पुरोगामी लेखक शाह वाडीलाल मोतीलाल तथा स्थानकवासि साधु श्री मणिलालजी ने भी यही राग बलापा है कि यतियों ने लौकाशाह को कष्ट दिया था, परन्तु यतियों पर दिये जाने वाले इस आरोप की सच्चाई को प्रमाणित करने के लिए कोई प्रमाण नहीं बताया, वास्तव में यह हकीकत लौकाशाह को महान् पुरुष ठहराने के अभिप्राय से कल्पित गढी है । ईसाइयों के धर्मप्रवर्तक 'जेसस क्राईष्ट' को उनके विरोधियों ने क्रॉस पर लटकाया था, जिसके परिणामस्वरूप लगभग सारा यूरोप उसका अनुयायी बन गया था, इसी प्रकार लौका को कष्ट-सहिष्णु महापुरुष बताकर लोगों को उसकी तरफ खींचने का लौका के भक्तों का यह झूठा प्रचार मात्र है । लौका ने तो तत्कालीन किन्हीं भी साधुओं के साथ भुकाबला करने की कोई बात नहीं लिखी, परन्तु लौकाशाह के वेशचारी शिष्यों के साथ श्री लावण्यसमय आदि अनेक विद्वान् साधु चर्चा-शास्त्रार्थ में उतरे थे और उनको पराजित किया था, लेकिन यह प्रसंग कोई उनको कष्ट देने का नहीं माना जा सकता, समाज के अन्दर फूट डालने और हजारों वर्षों से चले आते धार्मिक मार्ग में बखेडा डालने के कारण उन पर किसी ने कटुशब्द प्रहार अवश्य किए होंगे और यह होना अत्याचार नहीं है, ऐसी बातें तो लौका के बाड़े में से भाग छूटने वालों पर लौका के अनुयायियों ने भी की हैं, देखिये -

सं० १५७० में लौकामत को छोड़कर श्री विजजञ्चपि ने मूर्तिपूजा मानना स्वीकार किया; तब लौका के अनुयायियों ने उन पर कैसे बाग्बाण बरसाये थे, उसका नमूना निम्नलिखित केशवजी ऋषि कृत लौकाशाह के सिलोके को कड़ी पढ़िए -

“लवण ऋषि भीमाजी स्वामी, जगमाला हषि सखा स्वामी ।

बीमो निकल्यो कुमति पापी तेणइं वली जिनप्रतिमा थापी ॥२३॥”

इसी प्रकार लौकाशाह के विरोध में मूर्तिमण्डन पक्ष के विद्वानों ने लौकाशाह के लिए “लुम्भक” “लुंकट” आदि शब्दों से कोसा होगा, तो यह कुछ कष्ट देना नहीं कहा जा सकता । लौका की ही शती के लौकागच्छीय भानुचन्द्र यति, केशवजी ऋषि उन्नीसवीं शती के मध्यभागवर्ती “समकितसार” के कर्ता श्री जेठमलजी ऋषि आदि ने लौकाशाह तथा उनके मत के सम्बन्ध में बहुत लिखा है, फिर भी उनमें से किसी ने भी यह सूचन तक नहीं किया कि चैत्यवासियों ने लौकाशाह को कष्ट दिया था, वास्तव में लौकाशाह की तरफ जन समाज का ध्यान खींचने के लिए बीसवीं सदी के लेखकों की यह एक कल्पना मात्र है ।

भिक्षुत्रितय आगे कहता है - वर्तमानकालीन जैन साहित्य में चैत्यवासियों ने अनेक प्रक्षेप कर उन्हें परस्पर विरोधी बना दिया है, इसलिए लौका और उसके अनुयायी धर्मशी, आदि ने ३२ सूत्रों को ही मान्य रक्खा है । भिक्षुत्रितय की ये बातें उनके जैसे ही सत्य मानगे, विचारक वर्ग नहीं, जैन आगमों का शास्त्रवर्णित स्वरूप आज नहीं है, इस बात को हम स्वयं स्वीकार करते हैं, परन्तु लौका के अनुयायी जिन ३२ आगमों को गणघर कृत मानते हैं, वे भी काल के दुष्प्रभाव से बचे हुए नहीं हैं, उनमें सीकर्याय संक्षिप्त किये गये हैं, एक दूसरे के नाम एक दूसरे में निर्दिष्ट किये हुए हैं, उनसे यही प्रमाणित होता है, कि सूत्रों में जिस विषय का वर्णन जहां पर विस्तार से दिया गया है, उसको फिर मूल-सूत्र में न लिखकर उसी वर्णन वाले सूत्र का अतिदेश कर दिया है, जैन-सिद्धान्त के द्वादश आगम गणघर कृत होते हैं तब उपांग, प्रकीर्णक आदि शेष श्रुतस्यविर कृत होते हैं ।



स्थविरों में चतुर्दश पूर्वधर भी हो सकते हैं और सम्पूर्ण दशपूर्वधर भी हो सकते हैं, इन श्रुतधरों की कृतियां आगमों में परिगणित होती हैं, तब इन से निम्न कोटि के पूर्वधरों की कृतियां सूत्रव्याख्यांग या प्रकारांक कहलाते हैं और उनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार पढ़ने वालों के हितार्थ सिद्धान्त मर्यादा के बाहर नहीं जाने वाले उपयुक्त परिवर्तन भी होते रहते हैं, इस प्रकार के परिवर्तन ३२ सूत्रों में भी पर्याप्त मात्रा में हुए हैं, परन्तु लौका के अनपठ अनुयायियों को उनका पता नहीं है। लौका के अनुयायियों में प्रचलित संकड़ों ऐसी बातें हैं जो ३२ आगमों में नहीं हैं और उन्हें वे सच्ची मानते हैं तब कई बातें उनमें ऐसी भी देखी जाती हैं जो उनके मान्य आगमों से भी विरुद्ध हैं, इसका कारण मात्र इस समाज में वास्तविक तलस्पर्शी ज्ञान का अभाव है।

## व्याकरण व्याधिकरण है :

आज से कोई ५० वर्ष पहले लुंकागत के अनुयायी साधुओं को कहते सुना है कि “व्याकरण में क्या रक्ता है, व्याकरण तो व्याधिकरण है।”

स्थानकवासी साधुओं के उपर्युक्त उद्गारों का खास कारण था सत्रहवीं शती में लुंकागच्छ के आचार्य मेघजी ऋषि ने अपना गच्छ छोड़कर तपागच्छ में दीक्षित होने को घटना। इस घटना के बाद लुंकागच्छ वालों ने व्याकरण का पढ़ना खतरनाक समझा और अपने पाठ्यक्रम में से उसको निकाल दिया था, यही कारण है कि बाद के लौकागच्छ के आचार्य, यति और स्थानकवासी साधुओं के बनाये हुए संस्कृत, प्राकृत आदि के ग्रन्थ दृष्टि-गोचर नहीं होते “समकितसार” के कर्ता ऋषि जेठमलजी जैसे अग्रगामी स्थानकवासी साधु भी सूत्रों पर लिखे हुए टिप्पणों मात्र के आधार से अपना काम चलाते थे, यही कारण है कि भौगोलिक आदि की आवश्यक बातों में भी वे अज्ञान रहते थे, इस विषय में हम “समकितसार” का एक फिकरा उद्धृत करके पाठकों को दिखाएंगे कि उन्नीसवीं शती तक के लौकागच्छ के वंशज कितने प्रबोध होते थे।

“समकितसार” के पृष्ठ ११-१२ में “आर्यक्षेत्र की मर्यादा” इस शीर्षक के नीचे ऋषि जेठमलजी ने “बृहत्कल्पसूत्र” का एक सूत्र देकर आर्य अनार्य क्षेत्र को हृद दिखाने का प्रयत्न किया है -

“कप्पइ निग्गन्थाएणं वा निग्गंथीएणं वा पुरत्थिमेएणं जाव अंग मगहाओं एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओं एत्तए, पच्चत्थिमेएणं जाव पूणाविसयाओं एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओं एत्तए एयावयावकप्पइ, एयावयाव आरिए खेतै, नो से कप्पइ एत्तो वाहिं, तेण परं जत्थ नारादंसण-चरित्ताइं उस्सप्पन्ति ॥४८॥”

उपर्युक्त पाठ “समकितसार” में कितना अशुद्ध छपा है, यह जानने की इच्छा वाले सज्जन “समकितसार” के पाठ के साथ उपर्युक्त पाठ का मिलान करके देखे कि “समकितसार” में छपा हुआ पाठ कितना भ्रष्ट है, इस पाठ को देकर नीचे चार दिशा की क्षेत्र मर्यादा बताते हुए ऋषिजी कहते हैं -

“पूर्व दिशा में अंगदेश और मगघदेश तक आर्यक्षेत्र है, अब भी राजगृह और चम्पा की निशानियां पूर्व दिशा में हैं ।

दक्षिण में कौशम्बी नगरी तक आर्यक्षेत्र है, आगे दक्षिण दिशा में समुद्र निकट है इसलिए समुद्र की जगती लगती है ।

पश्चिम दिशा में धूमणानगरो कही है, वहां भी कच्छ देश तक आर्यक्षेत्र है, आगे समुद्र की जगती आती है ।

उत्तर दिशा में कुणाल देश और आवस्ती-नगरी है, जहां आज स्थालकोट नामक शहर है ।

आगे ऋषिजी कहते हैं - कितनेक नगरों के नाम बदल गए हैं; उनको लोकोत्तर से जानते हैं, जैसे - पाटलीपुर जो आज का पटना है, देसारणपुर वह मन्दसौर है, हत्थणापुर वह आज की दिल्ली, सोरीपुर वह आगरा छट्टीगांव वह बढवाण है ।

इसी प्रकार बृहत्कल्पोक्त गंगा, यमुना, सरयू, इरावती और मही इन पांच महानदियों का परिचय देते हुए जेठमलजी इरावती को लाहौर के पास की रावी बताते हैं और मही गुजरात में बडौदा शहर के उत्तर में ८-१० माईल के फंसले पर बहने वाली मही बताते हैं ।

जेठमलजी कौशम्बी के प्राये दक्षिण में समुद्र और उसकी जगती बताते हैं, यह भौगोलिक "अज्ञान" मात्र है, कौशम्बी नगरी प्राधुनिक इलाहाबाद से दक्षिण में वत्स देश की राजधानी थी । उनकी दक्षिण सीमा विन्ध्याचल के उत्तर प्रदेश में ही समाप्त हो जाती थी और समुद्र वहाँ से १ हजार माईल से भी अधिक दूर था, इस परिस्थिति में कौशम्बी की दक्षिण सीमा समुद्र के निकट बताना भौगोलिक अज्ञानता सूचक है ।

पश्चिम दिशा में आयदेश की अन्तिम सीमा धूमणानगरी कहते हैं और उनकी हृद कच्छ देश तक बताते हैं, यह भी गलत है, प्रथम तो नगरी का नाम ही गलत लिखा है, नगरी का नाम धूमणा नहीं, पर उसका नाम "स्थूणा" है और वह सिन्ध देश के पश्चिम में कहीं पर आयी हुई थी और उसके आस-पास के प्रदेश को जैनसूत्रों में "स्थूणाविषय" बताया है, कच्छ को नहीं ।

भारत के उत्तरीय आयदेश की सीमा पंजाब के शहर स्यालकोट तक बताते हैं, यह भी अज्ञानजन्य है, स्यालकोट पंजाब प्रदेश में वर्तमान भारत के वायव्यकोण में आया हुआ है, तब कुणाल देश भारत के उत्तरीय भाग में था और आजकल के "सेटमहेट" के किले को प्राचीनकाल में आवस्ती कहते थे । गोरखपुर तथा बस्ति जिले के आस-पास का प्रदेश पूर्वकाल में कुणाल देश कहलाता था ।

दशार्णपुर को जेठमलजी देसारणपुर लिखते हैं और उसको प्राधुनिक मन्दसौर कहते हैं जो यथार्थ नहीं है । दशार्णपुर आजकल का मन्दसौर नहीं किन्तु पूर्व कच्छवा के पहाड़ी प्रदेश में आए हुए दशार्ण देश की राजधानी थी और दशार्णपुर अथवा मृत्तिकावती इन नामों से प्रसिद्ध थी,

प्राधुनिक मन्दसौर का पूर्वकालीन नाम दशरूपपुर नहीं किन्तु 'दशपुर' था, यह बात शायद जेठमलजी के स्मरण में से उतर गई है।

हत्थाणापुर अर्थात् हस्तिनापुर दिल्ली नहीं, किन्तु वह कुरु जांगल देश की राजधानी स्वतंत्र नगरी थी और आज भी है। सौरपुर आगरा नहीं किन्तु आगरा से भिन्न प्राचीन सौर्यपुर नगर का नाम है। वदवाण को अट्टीगांव कहना भूज से भरा है, अस्थिकग्राम प्राचीन भारत के विदेह प्रदेश में था, पश्चिम भारत में नहीं।

लाहौर के पास की रावी नदी इरावती नहीं, किन्तु कुणाल प्रदेश में बहने वाली इरावती नामक एक बड़ी नदी थी, इसी प्रकार मही नदी भी बड़ौदा के निकटवर्ती गुजरात की मही नहीं किन्तु दक्षिण कोशल की पहाड़ियों से निकलने वाली मही नदी को सूत्र में ग्रहण किया है जो गंगा की सहायक नदी है।

"समकितसार" के लेखक श्री जेठमलजी के प्रमादपूर्ण उपर्युक्त पांच सात भूलों में ही "समकितसार" गत अज्ञान विलास की समाप्ति नहीं होती। यों तो सारी पुस्तक भूलों का खजाना है, प्रमाण के रूप में दिये गये संस्कृत प्राकृत अवतरण इतनी भद्दी भूलों से भरे पड़े हैं जो देखते ही पुस्तक पढ़ने की श्रद्धा को हटा देते हैं और पुस्तक की भाषा तो किसी काम की नहीं रहीं, क्योंकि शब्द-शब्द पर विषयगत अज्ञान और मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियों को देखकर पढ़ने वाले का चित्त ग्लानि से उद्विग्न हो जाता है।

हमारे सामने जो "समकितसार" की पुस्तक उपस्थित है यह "समकितसार" की तृतीयावृत्ति के रूप में विक्रम सं० १९७३ में अहमदाबाद में छपी हुई है, इसी "समकितसार" की सम्भवतः प्रथमावृत्ति विक्रम सं० १९३८ में निकली थी, इसकी द्वितीयावृत्ति कब निकली इसका हमें पता नहीं है और ७३ के बाद इसकी कितनी आवृत्तियां निकली यह भी साधनाभाव से कहना कठिन है। १९३८ की आवृत्ति निकलने के बाद इसके उत्तर में सं० १९४१ में "सम्यक्त्व-शत्योद्धार" नामक पुस्तक पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने लिखकर प्रकाशित करवाई "समकितसार"

में इसके लेखक, "ऋषि जेठमलजी ने मूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय का "हिंसा-धर्मी" यह नाम रक्खा है और सारी पुस्तक में उनको इसी नाम से संबोधित किया है। "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" में जेठमलजी की इस भाषा का ही प्रत्याघात है और उसके लेखक ने "मूढ़जेठाऋष, निन्हव" इत्यादि शब्दों के प्रयोगों से लेखक ने उत्तर दिया है। जेठमलजी के "समकितसार गत" अज्ञान को देखकर बीसवीं शती के पंजाबविहारी स्थानकवासी साधुओं के मन में आया कि संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं का जानना जैनसाधुओं के लिए जरूरी है, इसके परिणामस्वरूप कतिपय बुद्धिशाली स्थानकवासी साधुओं ने संस्कृत भाषा सीखी और हस्तलिखित सटीकसूत्र पढ़े। संस्कृत सीखने के बाद सटीकसूत्रों के पढ़ने से वे समझने लगे कि सूत्रों में अनेक स्थानों पर मूर्तिपूजा का विधान है और दिनभर मुंह पर मुंहपत्ति बांधना शास्त्रोक्त नहीं है, इन दो बातों को पूरे तौर पर समझने के बाद उनकी श्रद्धा वर्तमान स्थानकवासी सम्प्रदाय में से निकल जाने की हुई, प्रथम श्री बूटेरायजी, श्री मूलचन्दजी, श्री वृद्धिचन्दजी नामक तीन श्रमण मुंहपत्ति छोड़कर सम्प्रदाय से निकल गये, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रायें कर श्री बूटेरायजी ने अहमदाबाद आकर पं० मणिविजयजी के शिष्य बने, नाम वृद्धिविजयजी रक्खा। शेष दो साधु वृद्धिविजयजी के शिष्य बने और क्रमशः मुक्तिविजयजी, वृद्धिविजयजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके अनन्तर लगभग दो दशकों के बाद श्री आत्मारामजी श्री वीसनचन्दजी आदि लगभग २० साधु स्थानकवासी सम्प्रदाय छोड़कर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में आये और वृद्धिविजयजी आदि के शिष्य बने, इस प्रकार सम्प्रदाय में पठित साधुओं के निकल जाने से स्थानकवासी सम्प्रदाय में संस्कृत व्याकरण आदि भाषा विज्ञान के ऊपर से श्रद्धा उठ गई और व्याकरण को तो वे 'व्याधिकरण' मानने लगे।

## बीसवीं शती का प्रभाव :

यों तो अन्तिम दो शतियों से जैनश्रमणों में संस्कृत का पठन-पाठन बहुत कम हो गया था, परन्तु बीसवीं शती के उत्तरार्ध में संस्कृत भाषा की

फिर क्रम होने लगी। बनारस, मेसाणा आदि स्थानों में संस्कृत पाठ-शालाएँ स्थापित हुईं और उनमें गृहस्थ विद्यार्थी पढ़कर विद्वान् हुए कतिपय उनमें से साधु भी हुए, तब कई साधु स्वतंत्र रूप से पण्डितों के पास पढ़कर व्युत्पन्न हुए, इस नये संस्कृत प्रचार से भ्रमूतिपूजक सम्प्रदाय को एक नई चिंता उत्पन्न हुई, वह यह कि सम्प्रदाय में से पहले अनेक पठित साधु चले गये तो अब न जायेंगे, इसका क्या भरोसा? इस चिंता के वश होकर सम्प्रदाय के अमुक साधुओं ने अपने मान्य सिद्धान्तों पर नई संस्कृत टीकाएँ बनवाना शुरू किया। अहमदाबाद शाहपुर के स्थानक में रहते हुए स्थानक-वासी साधु श्री घीसीलालजी लगभग ७-८ साल से यही काम करवा रहे हैं, संस्कृतज्ञ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा आगमों पर अपने मतानुसार संस्कृत टीकाएँ तैयार करवाते हैं, साथ-साथ उनका गुजराती तथा हिन्दी भाषा में भाषान्तर करवा कर छपवाने का कार्य भी करवा रहे हैं; इस प्रकार की नई टीकाओं के साथ कतिपय सूत्र छप भी चुके हैं। टीकाकार के रूप में उन पर अमुक प्रसिद्ध साधुओं के नाम अंकित किये जाते हैं।

उपर्युक्त व्यवस्था चालू हुई तभी से श्री फूलचन्दजी ने सबसे आगे कदम उठाया, उन्होंने सोचा नई टीकाओं के बनने पर भी संस्कृत के जानकार साधु को प्राचीन मूर्तिपूजक सम्प्रदाय-मान्य टीकाओं को पढ़ने से कौन रोक सकेगा, इस वास्ते सबसे प्रथम कर्त्तव्य यही है कि आगमों में से तमाम मूर्तिपूजा के पाठ तथा उनके समर्थक शब्दों तक को हटा दिया जाय ताकि भविष्य में सूत्रों का वास्तविक अर्थ समझकर अपने सम्प्रदाय में से मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में साधुओं का जाना रुक जाय। अगर प्राचीन टीकाओं वाले आगमों में मूर्तिपूजा के अधिकार देखकर कोई यह शंका करेगा कि मूर्तिपूजक सम्प्रदाय-मान्य आगमों में तो प्रतिमापूजा के अधिकार विद्यमान है और अपने आगमों में नहीं इसका क्या कारण है, तो उन्हें कह दिया जायगा कि मूर्तिपूजा के पाठ चेत्यवासी यतियों ने आगमों में घुसेड़ दिये थे उनको हटाकर आगमों को संशोधित किया गया है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओं में व्याकरण को "व्याधिकरण" कहने की जो पुरानी परम्परा थी वह सचमुच ठीक ही थी, क्योंकि उनमें से

व्याकरण पढ़े हुए कई साधु सम्प्रदाय छोड़कर चले गये थे, श्री फूलचन्दजी तथा उनके शिष्य-प्रशिष्य भी साधारणतया व्याकरण पढ़े हुए हैं, तो उनके लिए भी “व्याकरण व्याधिकरण” होना ही था, यदि ये सम्प्रदाय में से निकल जाते तो इतना ही व्याधिकरण” होता, अन्यथा इन्होंने सूत्रों के पाठ निकालकर सूत्रों को जो खण्डित किया है और इस प्रक्रिया द्वारा सूत्रों की प्राचीनता में जो विकृति उत्पन्न की है, इसके परिणामस्वरूप भविष्य में कोई भी जेनेतर संशोधक विद्वान् इन सूत्रों को छूँगा तक नहीं, क्योंकि आगमों की मौलिकता ही उनका खरा जोहर है। वह फूलचन्दजी ने उनके सम्प्रदाय मान्य ३२ आगमों में से खत्म कर दिया है। अब उन पर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती भाषा की टीकाएँ लिखवाते रहें और छपवाते रहें, जैन आगमों के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता, जैनधर्मियों की प्राचीन सभ्यता और आगम-कालीन जैनों के आचार-विचार जानने के लिए ये “स्थानकवासी आगम” किसी काम के नहीं रहे। शोध, खोज, करने वालों के लिए ये आगम बीसवीं सदी के बने हुए किसी भी ग्रन्थ संदर्भ से अधिक महत्त्व के नहीं रहे।

भिक्षुत्रितय ‘सुत्तागमे’ के दोनों पुस्तकों में लिखता है – “पाठ शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा है, इसके सम्पादन में शुद्धि प्रतियों का उपयोग किया गया है।”

सम्पादकों की पाठ-शुद्धि का अर्थ है इनकी मान्यता में बाधक होने वाले पाठों को “हटाना”। अन्यथा कई स्थानों पर सम्पादकीय अशुद्धियाँ ही नहीं बल्कि सम्पादकों द्वारा अपनी होशियारी से की गई अनेक अशुद्धियाँ सूत्रों में दृष्टिगोचर होती हैं, इस स्थिति में सम्पादन में शुद्ध प्रतियों का उपयोग करने की बात केवल दम्भपूर्ण है, क्योंकि स्थानकवासियों के पास जो भी सूत्रों के पुस्तक होंगे वे अशुद्धियों के भण्डार ही होंगे, क्योंकि इनके पुस्तकालयों तथा स्थानकों में मिलने वाले पुस्तक बहुधा इनके अनपढ़ साधुओं के हाथ के लिखे हुए ही मिलते हैं। सोलहवीं शती में लौका का मत निकला और अठारहवीं शती के प्रारंभ में स्थानकवासी ऋषियों ने टिब्बे के साथ सूत्र लिखने शुरू किये थे, लिखने वाले साधु नकल करने

वाले लहियो से तो बढ़कर होशियार थे नहीं, फिर सम्पादकों को शुद्ध प्रतियां कहां से हाथ लगीं, यह सूचित किया होता तो इनके कथन पर विश्वास हो सकता था, परन्तु यह बात तो है ही नहीं, फिर कौन मान सकता है कि इनके सम्पादन कार्य के लिए ६०८-७०० वर्ष पहले के भागमों के शुद्ध आदर्श उपलब्ध हुए होंगे। 'सुत्तागो' के द्वितीय अंश में दो हुई पट्टावली से ही यह तो निश्चित होता है कि सम्पादकों को शुद्ध-पुस्तक नहीं मिला था। अन्यथा नन्दी को वाचक-वंशावली के ऊपर से ली हुई गाथाओं में में इतनी गड़बड़ी नहीं होती।

पट्टावली में सप्तम पट्टधर आर्य भद्रबाहु के सम्बन्ध में लेखक निम्न प्रकार का उल्लेख करते हैं - 'तयाणंतरं भ्रज्ज भद्रबाहु चउणाण चउदह-पुण्वधारणो दसाकप्पववहारकारणो सुयसमुद्धारणो ॥ ७ ॥'

उपर्युक्त प्रतीक में दो भूलें हैं, एक तो सम्पादक के सम्पादन की ओर दूसरी सम्पादक के शास्त्रीय ज्ञान के अभाव की, सम्पादन की भूल के सम्बन्ध में चर्चा करना महत्त्वहीन है, परन्तु दूसरी भूल के सम्बन्ध में ऊहापोह करना आवश्यक है, क्योंकि पट्टावली-निर्माता ने इस उल्लेख में भद्रबाहु स्वामी को "चतुर्ज्ञानधारक" लिखा है, वह शास्त्रोत्तीर्ण है - क्योंकि भद्रबाहु "ज्ञानद्वयधारक" थे। लेखक ने इनको चतुर्ज्ञानधारक कहने में किसी प्रमाण का उपन्यास किया होता, तो उस पर विचार करते। अन्यथा भद्रबाहु को चतुर्ज्ञानधारक कहना प्रमाणहीन है।

पट्टावली-लेखक ने अपनी पट्टावली में ११ वें नम्बर के स्थविर को "सन्तायिरिओ" लिखा है जिसका संस्कृत "शान्त्याचार्य" होता है जो कि गलत है, इन स्थविरजी का नाम "स्वात्याचार्य" (आचार्य स्वाति) है आचार्य शान्ति नहीं। शाण्डिल्य के बाद १४ वें स्थविर का नाम 'जिनधर्म' और १६ वें स्थविर का नाम "नन्दिल" लिखा है, जो दोनों भ्रम प्राप्त हैं, क्योंकि इन में से 'आर्यधर्म' का नाम नन्दी को मूल गाथाओं में नहीं है और "नन्दिल" का नम्बर मूल नन्दी में १७ वां है। नम्बर २० और २१ में स्थविरों के नाम भी पट्टावली-लेखक ने गलत लिखे हैं, आर्य महागिरि



की वाचक-परम्परा में सिंहगिरि का नाम नहीं है, किन्तु इस परम्परा में वाचक "ब्रह्मद्वीपकसिंह" का नाम अवश्य आता है, २१ वें स्थविर को "सिरिमन्तो" नाम से उल्लिखित किया है, जो गलत है, वास्तव में इनका नाम "हिमवन्त" है ।

पट्टावलीकार ने २३ वां नम्बर गोविन्द को दिया है, जो वास्तव में नन्दी की मूल गाथाओं में नहीं है, किन्तु यह नाम "प्रक्षिप्त गाथा में" आता है ।

पट्टावलीकार ने २५ वें स्थविर का नाम "लोहाचार्य" लिखा है, जो पथार्थ नहीं है, इनका खरा नाम "लोहित्याचार्य" है ।

पट्टावलीलेखक ने २६ वें स्थविर का नाय "दुप्पस" लिखा है, जो अशुद्ध है । देवद्विगण के पट्टगुरु का नाम 'दुप्पस' नहीं किन्तु "दूष्यगण" है, यह लेखक को समझ लेना चाहिए था ।

पट्टावलीकार ने देवद्विगण के बाद वीरभद्र २८ शिवभद्र २९ आदि ३३ नाम कल्पित लिखे हैं, अतः इन पर ऊहापोह करना निरर्थक है, इनके आगे पट्टावली लेखक ने "ज्ञानाचार्य" "भ्राणजो" आदि लौकागच्छ की परम्परा के ऋषियों के नाम दिए हैं, इन नामों में भी पंजावी आधुओं की पट्टावली के कई नामों के विरुद्ध पढ़ने वाले नाम हैं जिनकी चर्चा पहले ही पट्टावली-विवरण में की गई है ।







